22

भक्ति योग

स्वामी विवेकानन्द

प्रकाशक
सन्मार्ग प्रकाशन
दिल्ली—६

प्रकाशक
सन्मार्ग प्रकाशन
दिल्ली—६

संशोधित संस्करण १९६०
मूल्य—दो रुपये

मुद्रक
नूतन प्रेस
चाँदनी चौक, दिल्ली

दो शब्द

जिन महा पुरुषों ने भारत को गौरवान्वित किया है, उनमें स्वामी विवेकाकानन्द जी का नाम सदा ही आदर के साथ लिया जाएगा। कर्म, ज्ञान और भक्ति की जैसी सरस पावन त्रिवेणी हमें उनके जीवन में प्रवहमान दिखाई देती है, वैसी अन्यत्र कदाचित् ही दृष्टिगोचर होती है। उन्होंने अपनी साधना से न केवल भारतीयों को प्रभावित और लाभान्वित किया, अपितु विदेशी विचारकों के जीवन और दर्शन पर भी प्रर्याप्त प्रभाव डाला।

उनका जीवन दर्शन केवल बौद्धिक व्यापक—मात्र न होकर सर्वथा व्यावहारिक है। उसे हम दैनिक जीवन के लिये सर्वथा उपयोगी पाते हैं।

जिस समय भारत परतन्त्रता में जकड़ा हुआ था और चारों ओर निराशा और अकर्मण्यता छाई हुई थी, उस समय उन्होंने अपनी साधना द्वारा भारतीयों को कर्मठता और स्वतंत्रता का पाठ पढ़ाया।

प्रस्तुत पुस्तक 'भक्तियोग' में उन्होंने भक्ति की जैसी शास्त्र सम्मत और विराम सम्मत व्याख्या की है, वह उनके शास्त्राध्ययन और चिन्तन का मूर्त रूप है। ऐसे सद्ग्रन्थ का हिन्दी रूपान्तर प्रस्तुत करते हुए हम अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव कर रहे हैं। इस अध्ययन और चिन्तन से जिज्ञासु पाठक अवश्यमेव लाभान्वित होंगे।

प्रकाशक

विषय सूची

विषय | पृष्ठ संख्या

१——भक्ति के लक्षण

निष्कपट हृदय से ईश्वर की खोज को भक्तियोग कहते हैं। भक्ति अपने प्रारम्भ, मध्य और अन्त में प्रेममयी होती है। प्रभु-भक्ति में एक क्षण की प्रेमाकुलता अनन्त मुक्ति देने वाली है। भक्तियोग के साधक श्री नारद मुनि जी ने भक्तिसूत्र नामक अपने ग्रन्थ में कहा है कि "भगवान के प्रति परम प्रेम ही भक्ति है।" "जब मानव के हृदय में भक्ति का वास होता है तो सभी प्राणियों के प्रति उसमें प्रेम उत्पन्न हो जाता है। तब वह किसी से घृणा नहीं करता। उसका भीतर और बाहर सदा-सर्वदा के लिए सात्विक प्रसन्नता से भर जाता है।" इस निष्कपट प्रेम के द्वारा किसी मन चाही वस्तु की प्राप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि जब तक सांसारिक विषय-वासनाएं मन पर अधिकार जमाए रहती हैं, तब तक हृदय में इस निष्कपट प्रेम का उदय ही नहीं होता है।" "यह कर्म से तो श्रेष्ठ है ही, ज्ञान और योग से भी श्रेष्ठतम है।" कारण-कर्म ज्ञान और योग का कोई न कोई उद्देश्य है ही, पर भक्ति तो अपने में स्वयं ही एक उद्देश्य है। वह स्वयं साध्य भी है और साधन स्वरूपा भी।"१

१ ॐसा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा। नारद-सूत्र, प्रथम अनुवाक, द्वितीय सूत्र।
ॐसा न कामयना, निरोधरूपत्वात्।,, द्वितीय अनुवाक, प्रथम सूत्र।
ॐसा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योप्यधिकतरा।,, चतुथ अनु०, २५ सूत्र।
ॐस्वयं फलरूपे तेती ब्रह्मकुमारा।: ,, ,, ३० सूत्र।

हमारे देश के साधु-महात्माओं के बीच भक्ति ही चर्चा का एक विषय रही है। भक्ति की विशेष रूप से व्याख्या करने वाले शाण्डिल्य और नारद जैसे भक्त को छोड़ देने पर भी ज्ञानमार्ग के समर्थक, व्याससूत्र के भाष्यकारों ने भी भक्ति के सम्बन्ध में हमें बहुत-कुछ बताया है। भले ही उन भाष्यकारों ने, सब सूत्रों की न सही पर बहुत से सूत्रों की व्याख्या नीरस ज्ञान के अर्थ में ही की है, किन्तु यदि हम उन सूत्रों के और विशेष कर उपासना-काण्ड के सूत्रों के, अर्थ पर निष्पक्ष भाव से विचार करें, तो देखेंगे कि उनकी इस प्रकार मनमानी व्याख्या नहीं हो सकती।

वास्तव में ज्ञान और भक्ति में उतना भेद नहीं, जितना लोगों का अनुमान है। पर जैसा हम आगे देखेंगे, ये दोनों हमें एक ही लक्ष्य पर ले जाते हैं। यही हाल राजयोग का भी है। उसकी उपासना जब मुक्ति के लिए की जाती है—सीधे-सादे लोगों की आँखों में धूल झोंकने के उद्देश्य से नहीं (जैसा कि प्रायः ढोंगी और जादू-मंतर वाले कहते हैं)—तो वह भी हमें उसी लक्ष्य पर पहुँचा देता है।

भक्तियोग का एक बड़ा लाभ यह है कि वह हमारे अन्तिम उद्देश्य (ईश्वर) की प्राप्ति का सबसे सरल और स्वाभाविक मार्ग है। पर साथ ही उससे एक विशेष भय की आशंका यह है कि वह अपनी निम्न या गौणी अवस्था में मनुष्य को बहुधा अन्धविश्वासी और कट्टर बना देता है। हिन्दू, इस्लाम या ईसाई धर्म में जहाँ कहीं इस प्रकार के अन्धविश्वासी व्यक्तियों का दल है, वह सदैव ऐसे ही निम्न श्रेणी के भक्तों द्वारा गठित हुआ है। वह इष्ट के प्रति निष्ठा, जिस के बिना सच्चे प्रेम का विकास सम्भव नहीं, प्रायः दूसरे सब धर्मों की निन्दा का भी कारण बन जाती है। प्रत्येक धर्म और देश में जितने दुर्बल

और अल्प-बुद्धिमान मनुष्य हैं, वे अपने आदर्श से प्रेम करने का एक ही उपाय जानते हैं, और वह है—अन्य सभी आदर्शों को घृणा की दृष्टि से देखना। यही इस बात का उत्तर मिलता है कि वही मनुष्य, जो धर्म और ईश्वर सम्बन्धी अपने आदर्श में इतना लीन है, किसी दूसरे आदर्श को देखते ही या उस सम्बन्ध में कोई बात सुनते ही इतना बावला क्यों हो उठता है। इस प्रकार का प्रेम कुछ-कुछ दूसरों से अपने स्वामी की सम्पत्ति क रक्षा करने वाले एक कुत्ते की स्वाभाविक प्रवृत्ति के समान है। पर हाँ, कुत्ते की वह स्वाभाविक प्रेरणा मनुष्य की युक्ति से कहीं श्रेष्ठ है, क्योंकि वह कुत्ता कम-से-कम अपने स्वामी का शत्रु समझकर कभी भ्रम में तो नहीं पड़ता—चाहे उसका स्वामी किसी भी वेष में उसके सामने क्यों न आए। फिर, अन्धविश्वासी व्यक्ति अपनी सारी विचार-शक्ति खो बैठता है। व्यक्तिगत विषयों की ओर उसको इतनी अधिक नजर रहती है कि वह यह जानने का बिलकुल इच्छुक नहीं रह जाता कि कोई व्यक्ति कहता क्या है—वह ठीक है या गलत; उसका एकमात्र ध्यान यह जानने में रहता है कि वह बात कहता कौन है? जो व्यक्ति अपने सम्प्रदाय के—अपने मत वाले लोगों के प्रति दयालु है, भला और सच्चा है। सहानुभूति रखता है, वही अपने सम्प्रदाय से बाहर के लोगों के प्रति बुरा-से-बुरा काम करने में भी संकोच नहीं करता।

पर यह आशंका भक्ति की केवल निचली हालत में रहती है। इस अवस्था को 'गौण' कहते हैं। परन्तु जब भक्ति परिपक्व होकर उस हालत को प्राप्त हो जाती है, जिसे हम 'परा' कहते हैं, तब इस प्रकार की भयानक मतान्धता और कट्टरता की फिर आशंका नहीं रह जाती। इस 'परा' भक्ति

से सम्पन्न व्यक्ति प्रेम-रूप भगवान के इतने समीप पहुँच जाता है कि वह फिर दूसरों के प्रति घृणा-भाव फैलाने का साधन नहीं बन सकता।

यह सम्भव नहीं कि इसी जीवन में हममें से प्रत्येक, सामंजस्य के साथ अपना चरित्र-गठन कर सके; फिर भी हम तीनों का सुन्दर संमिश्रण हैं, एक पक्षी को उड़ने के लिए तीन अंगों की आवश्यकता होती है—दो पंख और पतवारस्वरूप एक पूँछ। ज्ञान और भक्ति दोनों दो पंख हैं और योग पूँछ जो सामंजस्य बनाए रखती है। जो इन तीनों साधनों का एक साथ, सामंजस्य सहित अनुष्ठान नहीं कर सकते और इसलिए केवल भक्ति को अपने मार्ग के रूप में अपना लेते हैं उन्हें यह सदैव याद रखना चाहिए कि यद्यपि बाह्य आचार और क्रिया-कलाप आरम्भिक दशा में नितान्त आवश्यक हैं । फिर भी भगवान के प्रति प्रगाढ़ प्रेम उत्पन्न कर देने के अतिरिक्त उनकी और कोई उपयोगिता नहीं।

यद्यपि ज्ञान और भक्ति दोनों ही मार्गों के आचार्यों का भक्ति के प्रभाव में विश्वास है, फिर भी उन दोनों में थोड़ा सा मतभेद है। ज्ञान की दृष्टि में भक्ति मुक्ति का एक मात्र साधन है, पर भक्त के लिए वह साधन भी है और साध्य भी। मेरी दृष्टि में तो यह भेद नाम मात्र का है । वास्तव में जब भक्ति को हम एक साधन के रूप में लेते हैं, तो उसका अर्थ केवल निम्न स्तर की उपासना होता है। और यह निम्न स्तर की उपासना ही आगे चल कर 'परा' भक्ति के रूप में परिणत हो जाती है। ज्ञान और भक्ति दोनों ही अपनी-अपनी साधना-विधि पर विशेष बल देते हैं; वे यह भूल जाते हैं कि पूर्ण भक्ति के उदय होने से पूर्ण ज्ञान बिना माँगे ही प्राप्त हो

जाता है और इसी प्रकार पूर्ण ज्ञान के साथ पूर्ण भक्ति भी आप ही आ जाती है।

इस बात को ध्यान में रखते हुए हम अब यह समझने का प्रयत्न करें कि इस विषय में महान् वेदान्त-भाष्यकारों का क्या कथन है। 'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्' सूत्र की व्याख्या करते हुए भगवान शंकराचार्य कहते हैं, "लोग ऐसा कहते हैं, 'वह गुरु का भक्त है, वह राजा का भक्त है, और वे यह बात उस व्यक्ति को सम्बोधित कर कहते हैं, जो गुरु या राजा का अनुसरण करता है और इस प्रकार वह अनुसरण ही जिसके जीवन का ध्येय है। इसी प्रकार, जब वे कहते हैं, 'एक पतिव्रता स्त्री अपने विदेश गये पति का ध्यान करती है, तो यहाँ भी एक प्रकार से उत्कंठा-युक्त निरन्तर स्मृति को ही लक्ष्य किया गया है।"[१] शंकराचार्य के मतानुसार यही भक्ति है।

इसी प्रकार 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' सूत्र की व्याख्या करते हुए भगवान रामानुज कहते हैं—

"एक पात्र से दूसरे पात्र में तेल डालने पर जिस प्रकार वह एक अखंड धारा में गिरता है, उसी प्रकार किसी ध्येय वस्तु के निरन्तर स्मरण को ध्यान कहते हैं। 'जब इस तरह की ध्यानावस्था ईश्वर के सम्बन्ध में प्राप्त हो जाती है, तो सारे बन्धन टूट जाते हैं।' इसी प्रकार शास्त्रों में इस निरंतर स्मरण को मुक्ति का साधन बतलाया है। फिर यह स्मृति दर्शन के ही समान है, क्योंकि उसका तात्पर्य इस शास्त्रोक्त वाक्य के तात्पर्य के ही सदृश है—उस पर और अवर (दूर

---

१ तथा हि लोके गुरुमुपास्ते राजानमुपास्त इति च यस्तात्पयरा गुर्वादीननुवर्तते स एवमुच्यते। तथा ध्यायति प्रोषितनाथा पतिमिति या निरंतर स्मरणा पतिं प्रति सोत्कंठा सैवमभिधीयते। ब्रह्मसूत्र शंकर भाष्य, ४।१।१

और समीप) पुरुष के दर्शन से हृदय-ग्रन्थियाँ छिन्न हो जाती हैं समस्त संशयों का नाश हो जाता है और सारे कर्म क्षीण हो जाते हैं।' जो समीप है, उसके तो दर्शन हो सकते हैं, पर जो दूर है उसका तो केवल स्मरण किया जा सकता है। फिर भी शास्त्रों का कथन है कि हमें तो उन्हें देखना है, जो समीप हैं और फिर दूर भी; और इस प्रकार शास्त्र हमें यह कह रहे हैं कि उपर्युक्त प्रकार का स्मरण दर्शन के ही बराबर है। यह स्मृति प्रगाढ़ हो जाने पर दर्शन का रूप धारण कर लेती है। शास्त्रों में कहा है कि उपासना का अर्थ निरंतर स्मरण ही है। और ज्ञान भी, असकृत् उपासना से अभिन्न है, निरंतर स्मरण के अर्थ में ही वर्णित हुआ है। अतएव श्रुतियों ने उस स्मृति को, जिसने प्रत्यक्ष, अनुभूति का रूप धारण कर लिया है, मुक्ति का साधन बतलाया है। 'आत्मा की अनुभूति न तो नाना प्रकार की विद्याओं से हो सकती है, न बुद्धि से और न बारम्बार वेदाध्ययन से। जिसको यह आत्मा वरण करती है, वही इसकी प्राप्ति करता है तथा उसीके सम्मुख आत्मा अपना स्वरूप प्रकट करती है। यहाँ यह कहने के उपरान्त कि केवल श्रवण, मनन और निदिध्यासन से आत्म-ज्ञान नहीं होता, यह बताया गया है, जिसको यह आत्मा वरण करती है, उसी के द्वारा यह प्राप्ति होती है।' जो अत्यन्त प्रिय है, उसी को वरण किया जाता है; जो इस आत्मा से अत्यन्त प्रेम करता है, वही आत्मा का सबसे प्रियपात्र है। यह प्रियपात्र जिससे आत्मा की प्राप्ति कर सके, उसके लिए स्वयं भगवान सहायता देते हैं; क्योंकि भगवान ने स्वयं कहा है, 'जो मुझमें सतत युक्त हैं और प्रीतिपूर्वक मेरा भजन करते है, उन्हें मैं ऐसा बुद्धियोग देता हूँ, जिससे वे मुझे प्राप्त हो जाते हैं।' इसीलिए कहा गया है कि जिसे यह प्रत्यक्ष अनुभावात्मक

स्मृति अत्यन्त प्रिय है, उसी को परमात्मा वरण करते हैं, वही परमात्मा की प्राप्ति करता है; क्योंकि जिनका स्मरण किया जाता है, उन परमात्मा की यह स्मृति अत्यन्त प्रिय है। यह निरंतर स्मृति ही 'भक्ति' शब्द द्वारा लक्षित हुई है।"[1]

[1] ध्यानं च तैलधारावदविच्छिन्न स्मृतिसंतानरूपा ध्रुवा स्मृतिः। स्मृत्युपलंभे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्ष' इति ध्रुवायाः स्मृतेरपावर्गोपायत्व-श्रवणात्। सा च स्मृतिर्दर्शनसमानाकारा; भिद्यते हृदयग्रंथिश्छिद्यन्ते सर्व-संशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावर' इत्यनेनैकर्थात्। एवं च सति 'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्य' इत्यनेन निदिध्यासनस्य दर्शनरूपता विधीयते। भवति च स्मृतेर्भावनाप्रकर्षाद्दर्शनरूपता। वाक्यकारेणैतत सर्वं प्रपंचितम्, 'वेदनमुपासनं स्यात् तद्विषये श्रवणादिति सर्वासूपनिषत्सु मोक्ष-साधनतया विहितम् 'वेदनमुपासन्' इत्युक्तम्। 'सकृत्प्रत्ययं कुर्या-च्छब्दार्थस्य कृतत्वात् प्रयाजादिवत्' इति पूर्वपक्षं कृत्वा 'सिद्धं तूपासन-शब्दात्' इति वेदनमसकृदावृत्तं मोक्षसाधनमिति निर्णीतम्। 'उपासनं स्याद्ध्रुवानुस्मृतिर्दर्शनान्निर्वचनाच्च' इति तस्वयैस्वेदनस्योपासनरूप-स्यासकृदावतस्य ध्रुवानुस्मृतित्वमुपवर्णितम्।' सेयं स्मृतिर्दर्शनरूपा प्रति-पादिता, दर्शनरूपता च प्रत्यक्षतापत्तिः। एवं प्रत्यक्षतापन्नामपवर्गसाधन-भूतां स्मृतिं विशिनष्टि, 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो, न मेधया, न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्' इति अनेन केवलश्रवणमनननिदिध्यासनानामात्मप्राप्त्युपायत्वमुक्त्वा 'यमैवेष आत्मो वृणुते, तेनैव लभ्यु' इत्युक्तम्। प्रियतम एव हि वरणीयो भवति, यस्यायं निरतिशयप्रियः स एवास्य प्रियतमो भवति। यथायं प्रियतम आत्मानं प्राप्नोति, तथा स्वयमेव भगवान् प्रयतत इति भगवतैवोक्तं— 'तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्। ददामि बुद्धियोग तं येन मामुपयान्ति ते' इति, 'प्रियो हि ज्ञानिनोत्यर्थमह स च मम प्रिय' इति च। अतः साक्षात्काररूपा स्मृतिः स्मर्यमाणात्यर्थप्रियत्वेन स्वयमप्यत्यर्थ-प्रिया यस्य, स एव परमात्मना वरणीयो भवतीति तेनैव लभ्यते परमा-त्मेत्युक्तं भवति। एवंरूपा ध्रुवानुस्मृतिरेव भक्तिशब्देनाभिधीयते।

पतंजलि के 'ईश्वर प्रणिधानाद्वा' सूत्र की वाख्या करते हुए श्री भोजराज कहते हैं "प्रणिधान वह भक्ति है, जिसमें इन्द्रियभोग आदि समस्त फलाकांक्षाओं का त्याग कर सारे कर्म उन परम गुरु परमात्मा को अर्पित कर दिये जाते हैं।"[१] भगवान व्यास ने भी इसकी व्याख्या करते हुए कहा है—"प्रणिधान वह भक्ति है, जिससे उस योगी पर परमेश्वर की कृपा होती है और उसकी सारी मनोकामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं।"[२] शाण्डिल्य के मतानुसार "ईश्वर में परमानुरक्ति ही भक्ति है।"[३] पर भक्ति की सर्वश्रेष्ठ व्याख्या तो वह है, जो भक्त प्रह्लाद ने दी है—"जैसी तीव्र आसक्ति अविवेकी पुरुषों की इन्द्रिय-विषयों में होती है, उसी प्रकार की आसक्ति तुम्हारा स्मरण करते समय कहीं मेरे हृदय से चली न जाय[४] यह आसक्ति किसके प्रति ? उन्हीं परम प्रभु ईश्वर के प्रति। किसी अन्य पुरुष के प्रति आसक्ति को कभी भक्ति नहीं कह सकते। इसके समर्थन में एक प्राचीन आचार्य के कथन को उद्धृत करते हुए अपने श्रीभाष्य में रामानुज कहते

—ब्रह्मसूत्र, रामानुजभाष्य, प्रथम सूत्र का भाष्य।

१ प्रणिधानं तत्र भक्तिविशे विशिष्टमुपासनं सर्वक्रियाणामपि तत्रार्पणम्। विषयसुखदायकं फलमनिच्छन् सर्वाः क्रियास्तस्मिन् परमगुरावर्पयत्ति। —पातंजल दर्शन, प्रथम अध्याय, समाधिपादि, २३ वें सूत्र की भोजवृत्ति।

२ 'प्रणिधानाद्भक्तिविशेषादावर्जितः ईश्वरस्तमनुगृह्णात्यभिध्यानमात्रेण इत्यादि—पातंजल दर्शन, प्रथम अध्याय, समाधिपाद, २३ वाँ सूत्र व्यासभाष्य।

३ 'सा परानुरक्तिरीश्वरे'—शाण्डिल्यसूत्र १।२

४ या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु ॥--विन्णुपुराण।१।२०।१

हैं—"ब्रह्मा से लेकर एक तृण पर्यन्त संसार के समस्त प्राणी कर्मजनित जन्म-मृत्यु के वश में हैं, अतएव अविद्यायुक्त और परिवर्तनशील होने के कारण वे इस योग्य नहीं कि ध्येय-विषय के रूप में वे साधक के ध्यान में सहायक हों।"[1] शाण्डिल्य के 'अनुरक्ति' शब्द की व्याख्या करते हुए भाष्यकार स्वप्नेश्वर कहते हैं, उसका अर्थ है—'अनु' यानी पश्चात्, और 'रक्ति' यानी आसक्ति, अर्थात्, वह आसक्ति जो भगवान के स्वरूप और उनकी महिमा के ज्ञान के पश्चात् आती है।[2] नहीं तो स्त्री, पुत्र आदि किसी भी व्यक्ति के प्रति अन्ध आसक्ति को ही हम 'भक्ति' कहने लगे। अतः हम स्पष्ट देखते हैं कि आध्यात्मिक अनुभूति के लिए किए जाने वाले मानसिक प्रयत्नों की परम्परा ही भक्ति है, जिसका प्रारम्भ साधारण पूजा-पाठ से होता है और अन्त ईश्वर के प्रति प्रगाढ़ एवं अनन्य प्रेम में।

---

१ आब्रह्मस्तंबपर्यन्ता जगदन्तर्व्यवस्थिताः।
प्राणिनः कर्मजनितसंसारवशवर्तिनः॥
यतस्ततो न ते ध्याने ध्यानिनामुपकारकाः।
अविद्यान्तर्गताः सर्वे ते हि संसारगोचराः॥

२ भगवन्महिमादिज्ञानादनु पश्चाज्जायमानत्वादनुरक्तिरित्युक्तम्।
—शाण्डिल्यसूत्र, स्वप्नेश्वर टीका, १।२

२—ईश्वर का स्वरूप

ईश्वर कौन है ? "जिससे विश्व का जन्म, स्थिति और प्रलय होता है, वही ईश्वर है।[1] वह अनन्त, शुद्ध नित्यमुक्त सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, परम कारुणिक और गुरुओं का भी गुरु है और सर्वोपारि, वह ईश्वर अनिर्वचनीय प्रेमस्वरूप है।"[2]

यह व्याख्या अवश्य ही सगुण ईश्वर की है। तो क्या ईश्वर दो हैं ? एक सच्चिदानन्दस्वरूप, जिसे ज्ञानी 'नेति नेति करके प्राप्त करता है और दूसरा भक्त का यह प्रेममय भगवान ? नहीं वह सच्चिदानन्द ही यह प्रेममय भगवान है, वह सगुण और निर्गुण दोनों हैं। यह सदैव ध्यान में रखना चाहिए कि भक्त का उपास्य सगुण ईश्वर, ब्रह्म से भिन्न अथवा पृथक् नहीं है। सब कुछ वही एकमेवाद्वितीय ब्रह्म है। पर हां, ब्रह्म का यह निर्गुण स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण प्रेम व उपासना के योग्य नहीं। इसीलिए भक्त ब्रह्म के सगुण भाव अर्थात् परम नियन्ता ईश्वर को ही उपास्य के रूप में ग्रहण करता है। उदाहरण के रूप में ब्रह्म मानो मिट्टी या उपादान के सदृश है, जिससे अनेक प्रकार की वस्तुएँ निर्मित हुई हैं। मिट्टी के रूप में तो वे सब एक हैं, पर उनका वाह्य आकार अलग-अलग होने से वे भिन्न-भिन्न प्रतीत होती हैं। उत्पत्ति के पूर्व वे सबकी सब मिट्टी में गूढ़ भाव से विद्यमान थीं। उत्पादन

१—जन्माद्यस्य यतः।—ब्रह्मसूत्र, १।१।२

२—स ईश्वर अनिर्वचनीयप्रेमस्वरूपः।

की दृष्टि से अवश्य वे सब एक हैं पर जब वे भिन्न-भिन्न आकर धारण कर लेती हैं और जब तक वह आकार बना रहता है तब तक तो वे पृथक्-पृथक् ही प्रतीत होती हैं। एक मिट्टी का चूहा कभी मिट्टी का हाथी नहीं हो सकता, क्योंकि गढ़ जाने के बाद उसकी आकृति ही उनमें विशेषत्व पैदा कर देती है, यद्यपि आकृतिहीन मिट्टी की दशा में वे दोनों एक ही थे। ईश्वर उस निरपेक्ष सत्ता की उच्चतम अभिव्यक्ति है, या यों कहिए, मानव-मन के लिए जहाँ तक निरपेक्ष सत्य की धारणा करना सम्भव है, बस वही ईश्वर है। सृष्टि अनादि है, और उसी प्रकार ईश्वर भी अनादि है।

वेदान्तसूत्र के चतुर्थ अध्याय के चतुर्थ पाठ में यह वर्णन करने के बाद की मुक्ति लाभ के पश्चात् की मुक्तात्मा को एक प्रकार से अनन्त शक्ति और अनन्त ज्ञान प्राप्त हो जाता हैं, व्यासदेव एक और सूत्र में कहते हैं, पर किसी को भी सृष्टि स्थिति और प्रलय की शक्ति प्राप्त नहीं होगी; क्योंकि यह शक्ति केवल ईश्वर की ही है।[1] इस सूत्र की व्याख्या करते समय द्वैतवादी भाषाकार के लिए यह दर्शाना सरल है कि परतंत्र जीव के लिए ईश्वर की अनन्त शक्ति और पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त करना सर्वथा असम्भव है। और द्वैतवादी भाष्यकार श्री मध्वाचार्य ने बाराहपुराण से एक श्लोक उधृतकर इस श्लोक की व्याख्या अपनी पूर्व परिचित संक्षिप्त शैली में की है।

इसी सूत्र की व्याख्या करते हुए श्री रामानुज कहते हैं, ऐसा संशय उपस्थित होता है कि मुक्तात्मा को जो शक्ति प्राप्त होती है, उसमें क्या परम पुरुष की जगत्सृष्टि आदि-रूप असाधारण शक्ति और सर्वनियन्तृत्व भी सन्नि ही हैं? या कि उसे यह शक्ति

---

१ जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च।

—ब्रह्मसूत्र, ४।४।१७

नहीं मिलती, और उसका एश्वर्य केवल इतना ही रहता है कि उसे परमात्मा के साक्षात्कार दर्शन मात्र हो जाते हैं ? तो इस पर पूर्वपक्ष यह उपस्थित होता है कि मुक्तात्मा का जगन्नियन्तृत्व प्राप्त करना युक्ति युक्त है ; क्योंकि शास्त्र का कथन है, 'वह शुद्ध रूप होकर परम पुरुष के साथ परम एकत्व प्राप्त कर लेता है, (मुंडक उपनिषद्, ३।१।३) एक स्थान पर यह भी कहा गया है कि उसकी समस्त वासनाएें पूर्ण हो जाती हैं। अब बात यह है कि परम एकत्व और सारी वासनाओं की पूर्ति परमात्मा की असाधारण और शक्ति सर्वनियन्तृत्व बिना सम्भव नहीं। इसलिए जब हम यह कहते हैं कि उसकी सब वासनाओं की पूर्ति हो जाती है और उसे परम एकत्व प्राप्त हो जाता है तो हमें यह मानना चाहिए कि उस मुक्तात्मा को सर्वनियन्तृत्व की शक्ति प्राप्त हो जाती है। इस सम्बन्ध में हमारे उत्तर यह हैं कि मुक्तात्मा को सर्वनियन्तृत्व के अतिरिक्त अन्य सब शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं। सर्वनियन्तृत्व का अर्थ है—विश्व के सारे जड़ चेतन के रूप, उसकी स्थिति और वासनाओं का नियन्तृत्व। पर मुक्तात्माओं में यह सर्वनियन्तृत्व की शक्ति नहीं रहती। हाँ, उसकी परमात्मदृष्टि का परदा अवश्य दूर हो जाता है और उन्हें प्रत्यक्ष ब्रह्मानुभूति हो जाती है—बस, यही उनका ऐश्वर्य है। यह कैसे जाना ? शास्त्र वाक्य के बल पर। शास्त्र कहते हैं। कि जगन्नियन्तृत्व केवल परब्रह्म का गुण है जैसे—'जिससे यह सृष्टि उत्पन्न होती है, जिसमें यह सृष्टि स्थित रहती है और जिसमें प्रलयकाल में यह सृष्टि लीन हो जाती है, तू उसी को जानने की इच्छा कर—वही ब्रह्म है।' यदि यह सर्वनियन्तृत्व-शक्ति मुक्तात्माओं का भी एक साधारण गुण होती तो उपर्युक्त लक्षण ब्रह्म का नहीं हो सकता, क्योंकि उसके सर्वनियन्तृत्व-गुण से ही उसका लक्षण प्रतिपादित हुआ है असामान्य-गुणों के

द्वारा ही किसी वस्तु की व्याख्या होती है, उसका लक्षण प्रतिपादित होता है। अतः निम्नलिखित शास्त्रवाक्यों में यह प्रतिपादित हुआ है कि परमात्मा ही सर्वनियमन कर्ता है, और इन वाक्यों में ऐसी किसी बात का उल्लेख नहीं, जिससे मुक्तात्मा का सर्वनियन्तृत्व स्थापित हो सके। शास्त्रवाक्य ये हैं—'वत्स' आदि में एकमेवाद्वितीय ब्रह्म ही था। उसमें स्फुरण हुआ कि मैं सृजन करूँगा। उसने तेज की सृष्टि की। आदि में केवल ब्रह्म ही था। उसकी उत्क्रान्ति हुई। जिससे क्षत्र नामक एक सुन्दर रूप प्रकट हुआ। वरुण, सोम, रुद्र, पर्जन्य, यम, मृत्यु, ईशान—ये सब देवता क्षत्र हैं।' 'पहले आत्मा ही थी ; अन्य कुछ भी क्रियाशील नहीं था। इससे सृष्टि-सृजन का विचार आया और फिर उसने सृष्टि कर डाली।' एकमात्र नारायण ही थे, न ब्रह्मा थे, न ईशान, न द्यावा-पृथ्वी, नक्षत्र, जल, अग्नि, सोम और सूर्य। अकेले उन्हें आनन्द न आया। ध्यान के अनन्तर उनके एक कन्या हुई—दश-इन्द्रिय।' 'जो पृथ्वीवास करते हुए भी पृथ्वी से अलग हैं,...जो आत्मा में रहते हुए...' इत्यादि।''[1] दूसरे सूत्र

१—किं मुक्तस्यैश्वर्यं जगत्सृष्टयादि परमपुरुषसाधारणं सर्वेश्वरत्वमपि, उत तद्रहितं केवलपरमपुरुषानुभवविषयमिति संशयः। किं युक्तम् ? जगदीश्वरत्वमपीति। कुतः ? निरञ्जनः परमं साम्यमुपैतीति' परमपुरुषेण परमसाम्यापत्तिश्रुयतेः; सत्यसंकल्पत्वश्रुतेश्च। न हि परमसाम्यसत्यसंकल्पत्वे सर्वेश्वरासाधारणजगन्नियमनेन विनोपपद्यते, अतः सत्यसंकल्पत्व-परमसाम्योपपत्तये समस्तजगन्नियमनरूपमपि मुक्तस्यैश्वर्यमित्येवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे, जगद्व्यापारवर्जमिति। जगद्व्यापारो निखिलचेतनाचेतनस्वरूपस्थिति-प्रवृत्तिभेदनियमनं, तद्वर्जं निरस्तनिखिलतिरोधानस्य निर्व्याजब्रह्मानुभवरूपं मुक्तस्यैश्वर्यम्। कुतः ? प्रकरणात्—निखिलजगन्नियमनं हि परं ब्रह्म प्रकृत्याम्नायते, यतो वा इमानि भूतानि

की व्याख्या करते हुए श्री रामानुज कहते हैं, "यदि कहो कि ऐसा नहीं है, क्योंकि वेदों में तो ऐसे अनेक श्लोक हैं जो इसका खंडन करते हैं, तो वास्तव में वेदों के उन-उन स्थानों पर केवल निम्न देवताओं के सम्बन्ध में ही मुक्तात्मा का ऐश्वर्य वर्णित है।[१] यह भी एक सरल मीमांसा है। यद्यपि रामानुज समष्टि की एकता स्वीकार करते हैं, तथापि उनके मतानुसार इस के भीतर नित्यभेद है। अतएव यह मत भी कार्यतः द्वैतभावात्मक

जायन्ते, तेन जातानि जीवन्ति, यत प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद्विजिज्ञस्वस्व तदब्रह्मइति।' यद्येतन्निखिलजगन्नियमनं मुक्तानामपि साधारण स्यात्, ततश्चेदं जगदीश्वरत्वरूपं ब्रह्मलक्षणं न संगच्छते; असाधारणस्य हि लक्षणत्वम्। तथा 'सदैव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं, तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति; तत्तेजोऽसृजतेति' 'ब्रह्म वा इदमेकमेवाग्र आसीत्तदेकं सन्न व्यभवत, तच्छ्रे, योरूपमसृजत क्षत्रं—यान्येतानि देवक्षत्राणीन्द्रो वरुणः सोमो रुद्रः पर्जन्यो यमो मृत्युरीशान' इति 'आत्मा वा इवमेक एवाग्र असीत नान्यत् किञ्चन मिषत स ऐक्षत लोकान्नुसृजा इति स इमांल्लोकानसृजत इति 'एको ह वै नारायण आसीन्न ब्रह्मा नेशानो नेमे द्यावापृथवी न नक्षत्राणि नापो नाग्निर्न सोमो न सूर्यः, न एकाकी य रमेत, तस्य ध्यानान्तस्थस्यैका कन्या दशेन्द्रियाणि इत्यादिषु। 'यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरः' इत्यारभ्य 'य आत्मनि तिष्ठन्' इत्यादिषु च निखिल-जगन्नियमनं परमपुरुषं प्रकृत्यैव श्रूयते। असन्निहितत्वाच्च—न चैतेषु निखिलजगन्नियमनप्रसंगेषू मुक्तस्य सन्निधानमस्ति, येन जगद्व्यापारस्त-स्यापि स्यात्।

—ब्रह्मसूत्र, रामानुज भाष्य, ४।४।१७

१—'प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाधिकारिकमंडलस्थोक्तेः।"

इस सूत्र (ब्रह्मसूत्र ४।४।१८) का रामानुज भाष्य देखिए।

होने के कारण जीवात्मा और सगुण ब्रह्म (ईश्वर) में भेद बनाए रखना रामानुज के लिए कोई कठिन कार्य न था।

अब इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध अद्वैतवादी क्या कहता है? यह समझने का प्रयत्न करें। हम देखेंगे कि अद्वैतमत द्वैतमत की समस्त आशाओं और इच्छाओं की किस प्रकार रक्षा और पूर्ति करता है, और फिर साथ ही किस प्रकार ब्रह्मभावापन्न मानव-जाति की परमोच्च गति के साथ सामंजस्य रखते हुए अपने सिद्धान्त का भी प्रतिपादन करता है। जो व्यक्ति मुक्तिलाभ के बाद भी अपने व्यक्तित्व की रक्षा के इच्छुक हैं—भगवान से स्वतंत्र रहना चाहते हैं, उन्हें अपनी इच्छाओं को पूरा करने और सगुण ब्रह्म का सम्भोग करने का यथेष्ठ अवसर मिलेगा। ऐसे लोगों के बारे में भागवत-पुराण में कहा है—"हे राजन्, हरि के गुण ही ऐसे हैं कि समस्त बन्धनों से मुक्त, आत्माराम ऋषि-मुनि भी भगवान की अहैतुकी भक्ति करते हैं।"[२]

सांख्य में इन्हीं लोगों को प्रकृतिलीन कहा गया है; सिद्धिलाभ के बाद ये ही दूसरे कल्प में विभिन्न जगत के शासनकर्त्ता के रूप प्रकट होते हैं। किन्तु इनमें से कोई भी कभी ईश्वर-तुल्य नहीं हो पाता। जो ऐसी अवस्था को प्राप्त हो गए हैं, जहाँ न सृष्टि है, न सृष्ट, न स्रष्टा, जहाँ न ज्ञाता है, न ज्ञान और ज्ञेय, जहाँ न 'मैं, है, न 'तुम' और न 'वह' जहाँ न प्रमाता है, न प्रमेय और न प्रमाण, जहाँ 'कौन किसको देखे'—वे लोग सब से अतीत हो गए हैं। और वहाँ पहुँच गए हैं जहाँ 'न वाणी पहुँच सकती है, न मन, और जिसे श्रुति

२—आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिम् इत्थंभूतगुणो हरि॥
—श्रीमद्भागवत, १।७।१०

'नेति, नेति' कहकर पुकारती है। परन्तु जो इस अवस्था की प्राप्ति नहीं कर सकते, अथवा जो उसकी इच्छा नहीं करते, वे उस एक अविभक्त ब्रह्म को प्रकृति, आत्मा और इन दोनों में ओते-पोते एवं इनके आश्रयस्वरूप ईश्वर—इस त्रिधा-विभक्त रूप में देखेंगे। जब प्रह्लाद अपने आपको भूल गए, तो उनके लिए न तो सृष्टि रही और न उसका कारण; रह गया केवल नाम-रूप से अविभक्त एक अनन्त तत्त्व। पर ज्योंही उन्हें यह ज्ञान हुआ कि मैं पह्लाद हूँ, त्योंही उनके सम्मुख जगत् और अनन्त गुणागार जगदीश्वर प्रकाशित हो गए। यही अवस्था बड़भागी, गोपियों की भी हुई थी। जब तक वे 'अहंज्ञान से शून्य थीं; तब तक वे मानो कृष्ण ही हो गई थीं। पर ज्योंही वे कृष्ण को उपास्य-रूप में देखने लगीं, बस त्योंही वे फिर से गोपी की गोपी हो गईं और तब 'उनके सम्मुख पीताम्बरधारी मालाविभूषित साक्षात् मन्मथ के भी मनको मथ देने वाले कमलमुख श्रीकृष्ण प्रकट हो गए।''[1]

अब हम फिर आचार्य शंकर की बात लें। वे कहते हैं— "अच्छा जो लोग सगुण ब्रह्मोपासना के बस से परमेश्वर के साथ एक हो जाते हैं पर साथ ही जिनका मन अपना अलग अस्तितव बनाए रखता है, उनका ऐश्वर्य ससीम होता है या असीम ? यह संशय आने पर पूर्वपक्ष उपस्थित होता है कि उनका ऐश्वर्य असीम है, क्योंकि शास्त्रों का कथन है 'उन्हें स्वाराज्य प्राप्त हो जाता है' सब देवता उसकी पूजा करते हैं, 'सारे लोकों में उनकी कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं।' इसके उत्तर

१—तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः।
पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षात मन्मथमन्मथः॥
—श्रीमदभागवत, १०।३२।२

में व्यास कहते हैं—हाँ जगत् की सृष्टि आदि शक्ति को छोड़ कर।' मुक्तात्मा को सृष्टि, स्थिति और प्रलय की शक्ति के अतिरिक्त अन्य सब अणिमादि शक्तियाँ प्राप्त हो जाती है। रहा जगत् का नियन्तृत्व वह तो केवल नित्यसिद्ध ईश्वर का होता है। कारण कि शास्त्रों में जहाँ-जहाँ पर सृष्टि आदि की बात आई है उन सभी स्थानों में ईश्वर में ईश्वर की ही बात कही गई है। वहाँ पर मुक्तात्माओं का कोई प्रसंग नहीं है। जगत् के परिचालन में केवल इन्हीं परमेश्वर का हाथ है। सृष्टि सम्बन्धी सारे श्लोक उन्हीं का निर्देश करते हैं। फिर 'नित्यसिद्ध' विशेषण भी दिया गया है। शास्त्र यह भी कहते हैं कि अन्य जनों को अणिमादि शक्तियाँ ईश्वर की उपासना तथा ईश्वर के अन्वेषण से ही प्राप्त होती हैं। ये शक्तियाँ असीम नहीं हैं। अतएव, जगन्नियन्तृत्व में उन लोगों का कोई स्थान नहीं। फिर वे अपने मन का पृथक अस्तित्व बनाए रखते हैं, इसलिए यह सम्भव है कि उनकी इच्छाएँ अलग-अलग हों। हो सकता है कि एक सृष्टि की इच्छा करे, तो दूसरा विनाश की। यह द्वन्द्व दूर करने का एक मात्र उपाय यही है कि वे सब इच्छाएँ अन्य किसी एक इच्छा के अधीन कर दी जायें। अतः सिद्धान्त यह निकला कि मुक्तात्माओं की इच्छाएं परमेश्वर की इच्छा के अधीन हैं।"[1]

---

१. ये सगुणब्रह्मोपासनात् सदैव मनसा ईश्वरसायुज्यं व्रजन्ति किन्तेषां निरवग्रहमैश्वर्यं भवत्याहोस्वित् सावग्रहमिति संशयः। किन्तावत् प्राप्तम् ? निरंकुशमेवैषामैश्वर्यं भवितुमर्हति, 'आप्नोति स्वराज्यं', सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ति', 'तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति'. इत्यादि श्रुतिभ्यः। इत्येवं प्राप्ते पठति-जगद्व्यापारवर्जमिति। जगदुत्पत्यादिव्यापारं वर्जयित्वान्यदणिमाद्यात्मकमैश्वर्यं मुक्तानां भवितुमर्हति। जगद्व्यापारस्तु

इसलिए भक्ति केवल सगुण ब्रह्म की ही की जा सकती है। "देहाभिमानियों को अव्यक्त गति कठिनता से प्राप्त होती है।"[२] हमारे स्वभावरूपी स्रोत के साथ सामंजस्य रखते हुए भक्ति प्रवाहित होती है। यह सत्य है कि ब्रह्म के मानवी भाव के अतिरिक्त हम किसी दूसरे भाव की धारणा नहीं कर सकते। पर क्या यही बात हमारी सभी ज्ञान वस्तुओं के सम्बन्ध में भी नहीं घटती? संसार के सर्वश्रेष्ठ मनोवैज्ञानिक भगवान कपिल ने सदियों पहले यह दर्शा दिया था कि हमारे समस्त बाह्य और आन्तरिक विषय-ज्ञानों और धारणाओं में मानवी ज्ञान एक उपादान है। अपने शरीर से लेकर ईश्वर तक यदि हम विचार करें, तो ज्ञात होगा कि हमारे अनुभव की प्रत्येक वस्तु दो बातों का मिश्रण है—एक है यह मानवी ज्ञान और दूसरी है एक अन्य वस्तु—फिर यह अन्य वस्तु चाहे जो हो। इस अवश्यम्भावी मिश्रण को ही हम साधारणतया 'सत्य' समझा करते हैं। और सचमुच, आज या भविष्य में मानव-मन के लिए सत्य जहाँ तक सम्भव है, वह इसके अतिरिक्त और अधिक कुछ नहीं। इसलिए

नित्यसिद्धस्यैवेश्वरस्य। कुतः? तस्य तत्र प्रकृत्वासन्निहितत्वाच्चेतरेषाम् पर एव हीश्वरो जगद्व्यापारेऽधिकृतः, तमेव प्रकृत्योत्पत्याद्युपदेशान्नित्य-शब्दनिबन्धनत्वाच्च। तदन्वेषणविजिज्ञासनपूर्वकमितरेषामादिमदैश्वर्य श्रूयते। तेनासन्निहितास्ते जगद्व्यापारे। समनस्कत्वादेव चैषामनैकमत्ये कस्यचित् स्थित्यभिप्रायः कस्यचित संहारभिप्रायः इत्येवं विरोधोऽपि कस्यचित स्यात्। अथ कस्यचित संकल्पमन्वन्यस्य संकल्प इत्यविरोधः समर्थ्येत। ततः परमेश्वराकूततंत्रत्वमेवेतरेषामिति व्यवतिष्ठते।

—ब्रह्मसूत्र, शंकर भाष्य, ४। । १७

२. अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते।

—भगवदगीता १२।५

यह कहना कि ईश्वर मानव-धर्म वाला होने के कारण असत्य है, निरी मूर्खता है। यह बहुत-कुछ पाश्चात्य विज्ञानवाद (Idealism) और सर्वास्तित्ववाद (Realism) के झगड़े के समान है। यह सारा झगड़ा केवल इस 'सत्य शब्द के उलट-फेर पर अवलम्बित है। 'सत्य शब्द से जितने भाव सूचित होते हैं, वे समस्त भाव 'ईश्वर-भाव' में आ जाते हैं। ईश्वर उतना ही सत्य है, जितनी विश्व की अन्य कोई वस्तु। और वास्तव में 'सत्य' शब्द यहाँ पर जिस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, उससे अधिक 'सत्य' शब्द का और कोई अर्थ नहीं। यही हमारी ईश्वर सम्बन्धी दार्शनिक धारणा है।

३—भक्तियोग का ध्येय, प्रत्यक्षानुभूति

भक्तों के लिए इन सब शुष्क विषयों की जानकारी बस इसलिए आवश्यक है कि वे अपनी इच्छा शक्ति दृढ़ बना सकें; इससे अधिक और कोई उपयोगिता नहीं । कारण वह एक ऐसे मार्ग पर चल रहा है जो शीघ्र ही उसे नर्क के धुँधले और अशान्तिमय राज्य की सीमा से बाहर निकाल प्रत्यक्ष अनुभूति के राज्य में ले जायगा । प्रभु की कृपा से वह शीघ्र ही ऐसी अवस्था में पहुँच जाता है जहाँ पाण्डित्य-गर्वियों का प्रिय अक्षम तर्क बहुत पीछे छूट जाता है । वहाँ बुद्धि के सहारे अंधेरे में टटोलना नहीं पड़ता वहाँ तो प्रत्यक्ष-अनुभव-सूर्य की उज्ज्वल किरणों से सब कुछ प्रकाशित हो जाता है तब वह और विचार या विश्वास नहीं करता तब वह प्रत्यक्ष देखता है । वह और तर्क नहीं करता वरन् प्रत्यक्ष अनुभव करता है। और क्या ईश्वर का यह साक्षात्कार यह अनुभव यह उपभोग दूसरे विषयों से कहीं श्रेष्ठ नहीं है ? यही नहीं, बल्कि ऐसे भी भक्त हैं जिन्होंने घोषणा की है कि वह तो मुक्ति से भी श्रेष्ठ हैं। और यह क्या हमारे जीवन का सर्वोच्च प्रयोचन भी नहीं है पर संसार में ऐसे बहुत से लोग हैं जिनकी यह पक्की धारणा है कि केवल यही चीज उपयोगी है जिससे मनुष्य को भौतिक सुख प्राप्त होते हैं; यहाँ तक कि कर्म, ईश्वर, आत्मा आदि भी उनके किसी काम के नहीं, क्योंकि उन्हें उनसे धन या शारीरिक सुख प्राप्त नहीं होते ! उनके लिए ऐसी सारी वस्तुएँ, जो इन्द्रियों को सन्तुष्ट नहीं

करतीं, जिनसे वासनाओं की तृप्ति नहीं होती, किसी भी काम की नहीं। फिर प्रत्येक मन की विशेष आकाँक्षाओं के अनुसार उपयोगिता का रूप भी बदल जाता है। जिस व्यक्ति को जिस वस्तु की आवश्यकता होती है, उसे वही सबसे उपयोगी जान पड़ती है। अतः उन लोगों के लिए, जो खाने-पीने, सन्तान उत्पन्न करने और फिर मर जाने के सिवा और कुछ नहीं जानते, इन्द्रिय-सुख ही एक-मात्र लाभ जान पड़ता है! ऐसे लोगों के हृदय में उच्चतर विषय के लिए थोड़ी सी भी इच्छा जगने के लिए अनेक जन्म लग जायेंगे। पर जिनके लिए आत्म-उन्नति के साधन भौतिक जीवन के क्षणिक सुख भोगों से अधिक महत्त्व पूर्ण हैं, जिनकी दृष्टि में इन्द्रियों की दृष्टि केवल एक नासमझ बच्चे के खिलवाड़ के समान है, उनके लिए भगवान और भगवत्प्रेम ही मानव जीवन का सर्वोच्च प्रयोजन है। ईश्वर की कृपा है कि आज भी यह घोर भोग लिप्सापूर्ण संसार ऐसे महात्माओं से बिलकुल शून्य नहीं हो गया है।

पहले कहा जा चुका है कि भक्ति दो प्रकार की होती है, 'गौणी' और परा। गौणी का अर्थ है साधन-भक्ति, अर्थात् जिसमें हम भक्ति को एक साधन के रूप में लेते हैं। और परा इसी की चरमावस्था है। क्रमशः हम समझ सकेंगे कि इस भक्ति मार्ग में अग्रसर होने के लिए साधनावस्था में कुछ बाह्य सहायता लिए बिना काम नहीं चलता। और वास्तव में सभी धर्मों के पौराणिक और रूपक भाग आप ही आप उपस्थित होते हैं तथा उन्नति-कामी आत्मा की प्रारम्भिक दशा में उसे ईश्वर की ओर बढ़ने में सहायता देते हैं यह भी एक महत्व पूर्ण बात है कि बड़े बड़े धर्मात्मा उन्हीं धर्मसम्प्रदायों में हुए हैं, जिनमें आप पौराणिक भावों और क्रिय-अनुष्ठानों की प्रचुरता है। जो सब शुष्क मतान्ध धर्म-प्रणालियाँ इस बात का प्रयत्न करती हैं कि जो कुछ कवित्व-

मय, सुन्दर और महान् है, जो कुछ भगवत्प्राप्ति के मार्ग में गिरते-पड़ते अग्रसर होने वाले सुकुमार मन के लिए अवलम्बन स्वरूप हैं; उन सबको नष्ट कर डालें; जो धर्म-प्रणालियाँ धर्म-प्रासाद के आधार-स्वरूप स्तम्भों को ही ढहा देने का प्रयत्न करतीं हैं; जो सत्य के सम्बन्ध में अज्ञान और भ्रम-पूर्ण धारणा लेकर इस बात के लिए यत्नशील हैं कि जो कुछ जीवन के लिए संजीवनी स्वरूप है, जो कुछ मानवात्मारूपी क्षेत्र में लहलहाती हुई धर्म-लता के लिए पोषक है, यह सब नष्ट हो जाय—उन धर्म-प्राणियों को यह शीघ्र अनुभव हो जाता है कि उनमें जो कुछ रह गया है, वह है केवल एक खोखलापन—अनन्त शब्द-राशि और कोरे तर्कों का एक स्तूप मात्र, जिसमें शायद एक प्रकार का सामाजिक सफाई या तथाकथित सुधार की थोड़ी सी गंध भर बच रही है। जिनका धर्म इस प्रकार का है, उनमें से अधिकतर या न जानते हुए जड़वादी हैं; उनके लौकिक व पारलौकिक जीवन का लक्ष्य केवल भोग है; वही उनकी दृष्टि में मानव जीवन का सार सर्वस्व है, वही उनका ध्येय है। मनुष्य के लौकिक सुख-स्वातंत्र्य के लिए रास्ता साफ कर देना आदि कार्य ही उनके मत में मानव-जीवन का सर्वस्व है। अज्ञात और मतान्धता के इस विचित्र मिश्रण में रंगे हुए ये लोग जितनी जल्दी अपने असली रंग में आ जायँ और जितनी जल्दी नास्तिकों और जड़वादियों के दल में जाकर शामिल हो जायँ (क्योंकि असल में वे हैं उसी के योग्य) संसार का उतना ही मंगल है। धर्मानुष्ठान और आध्यात्यिक अनुभूति का एक छोटा सा कण भी ढेरों थोथी बकवासों और अन्धी भावुकता से कहीं बढ़ कर है। हमें कहीं एक भी तो ऐसा आध्यात्मिक दिग्गज दिखा दो, जो अज्ञान और मतान्धता की इस ऊसर भूमि से उपजा हो। यदि यह न कर सको, तो बन्द कर लो अपना मुँह; खोल दो अपने हृदय के द्वार

जिससे सत्य की किरणें भीतर प्रवेश कर सकें, और जाओ उन भारत-गौरवों ऋषी-मुनियों की शरण में, जिनके प्रत्येक शब्द के पीछे प्रत्यक्ष अनुभूति का बल है। आओ, हम सब शिशु के समान उनके चरणों में बैठें और ध्यानपूर्वक उनके उपदेश सुनें।

४—गुरु की आवश्यकता

प्रत्येक जीवात्मा पूर्णता प्राप्त करेगी और अन्त में सभी सिद्धि लाभ करेंगे। हम जैसे हैं वह अपने पूर्व जन्म के विचार और कर्म का फल है। और इस समय हम वैसे ही होंगे किन्तु हमारे भाग्य संगठन में किसी वाह्य सहायता की आवश्यकता न हो, ऐसा नहीं है। वरन् अधिकांश स्थलों पर इस प्रकार की सहायता की अत्यन्त आवश्यकता है। जिस समय हमें यह सहायता प्राप्त हो जाती तो हमारी उच्च शक्तियाँ और अन्योक्त भावनाएँ जाग उठती हैं, आध्यात्मिक जीवन अधिक सतेज हो जाता है उन्नति शीघ्र होती है और अन्त में साधक पवित्र और सिद्ध हो जाता है।

यह संजीवनी शक्ति पुस्तकों से नहीं प्राप्त होती। आत्मा केवल दूसरी आत्मा से शक्ति प्राप्त कर सकता है और किसी वस्तु से नहीं। जीवन भर पुस्तक पाठ करें—चाहे जितना बुद्धिमान हो जाय—किन्तु अन्त में आध्यात्मिक उन्नति कुछ नहीं होती। यह बिलकुल निरर्थक है कि बुद्धि के साथ-साथ आध्यात्मिक उन्नति भी होती है। पुस्तक पाठ करते-करते हमें भ्रम हो जाता है कि हमें आध्यात्मिक लाभ होता है। किन्तु यदि हम गम्भीर रूप से विवेचना करें कि पुस्तक पाठ से हमें क्या फल होता है तो मालूम जो जाएगा कि हमारी बुद्धि तो अधिकाधिक तेज होती जाती है, किन्तु अन्तर आत्मा को कोई लाभ नहीं होता। हम लोगों में प्रायः सभी को आध्यात्मिक वार्तालाप की अद्भुत निपुणता प्राप्त है किन्तु कार्य करते समय—प्राकृतिक धर्मानुसार

जीवन व्यतीत करने में---हममें कितनी कमी है यह स्पष्ट ही है। इसका कारण यही है कि पुस्तकों का ढेर आध्यात्मिक जीवन की उन्नति के लिए पर्याप्त नहीं। जीवन को शक्ति जागृत करने के लिए किसी दूसरी आत्मा द्वारा शक्ति संचार होना आवश्यक है।

जिस व्यक्ति की आत्मा से दूसरे की आत्मा को शक्ति मिले उसे 'गुरु' कहते हैं और जिसकी आत्मा में शक्ति संचारित होती है, उसे शिष्य'। इस प्रकार की शक्ति संचारित करने में जो संचार करता है, उसमें शक्ति संचारन की शक्ति होना आवश्यक है। बीज को शक्तिशाली होने की आवश्यकता है तो खेत भी खूब बना होना चाहिये। जहाँ यह दोनों विद्यमान हैं, वहीं प्रकृति धर्म का अपूर्व विकाश होता है।

"धर्म का उपदेश आश्चर्यजनक शक्ति सम्पन्न होना चाहिए और श्रोता को भी निपुण होने की आवश्यकता है।"[1] और जब दोनों वास्तव में आश्चर्यजनक और असाधारण होते हैं, तभी तो आश्चर्यजनक आध्यात्मिक उन्नति होती है, अन्यथा नहीं। इसी प्रकार का व्यक्ति गुरु कहलाता है और ऐसा चेला ही शिष्य होता है। और सब तो धर्म के नाम का खिलवाड़ करते हैं। उन्हें कुछ कोतुहल---कुछ जानने की इच्छा मात्र होती है और सदा धर्मचक्र के बाहर होती ही रहती हैं। यह अवश्य है कि यह भी मूल्यहीन नहीं है, क्योंकि कभी-कभी इसी से धर्म-पिपासा जग उठती है और प्रकृति का यह कुछ विचित्र नियम है कि ज्योंही खेत तैयार हो जाता है, तो उसे बीज कहीं न कहीं से अवश्य मिलता है। जब आत्मा की धर्म-पिपासा प्रबल हो

१---आश्चर्यो वक्ता कुशलोस्य लब्ध्वा इत्यादि।
(कठोपनिषत् १ म अध्याय २ बल्ली १ श्लोक)

उठती है, तब धर्म-शक्ति संचारक पुरुष उस आत्मा की सहायता के लिए अवश्य आता है। जब ग्रहण करने वाले की आत्मा धर्म के आलोक आकर्षित करने में पूर्ण और प्रबल हो जाती है तो उसके पास उसी आकर्षण से आलोकदायिनी शक्ति अवश्य आती है।

पर इस पथ में कई बड़ी-बड़ी रुकावटें भी हैं। जैसे, क्षण-स्थायी-भावुकता को आत्मा भ्रम से धर्म पिपासा समझ सकती हैं। हमें अपने जीवन में ही इसका प्रमाण मिला है। हमारे जीवन में अनेकों अवसर आते हैं—जैसे अपने प्रियतम की मृत्यु होना—जब हमें घोर आघात होता है, मालूम होता है कि हम जिस पर हाथ धरते हैं, वही फिसलता-सा है। ऐसे समय कुछ अधिक दृढ़ तथा उच्च आश्रय की आवश्यकता है—हमें अवश्य धार्मिक होना चाहिए आदि। कुछ ही दिनों बाद यह भाव तरंग विलुप्त हो जाते हैं और हम जहाँ थे फिर वहीं रह जाते हैं। हम सभी ऐसी भावुकताओं को धर्म-पिपासा समझते हैं। किन्तु जब तक हम इन क्षणिक भावुकताओं को भ्रम वस प्रकृति धर्म-पिपासा समझेंगे, तब तक धर्म के लिए यथार्थ में स्थायी व्याकुलता नहीं जागृत हो सकती और तभी तक शक्ति संचारकारी गुरु के दर्शन नहीं मिल सकते। इसलिए जब आपको यह मालूम पड़े कि सत्य प्राप्ति की चेष्टाएँ असफल हो रहीं हैं तो आपको अपना भीतर टटोलकर देखना चाहिए कि हृदय में धर्म के लिए आग्रह उत्पन्न हुआ है या नहीं। ऐसा करने पर अधिकांश में हमें यह प्रतीत होगा कि हम सत्य ग्रहण के उपयुक्त नहीं हैं—हम में धर्म-पिपासा जागृत नहीं हुई है।

शक्ति संचारक गुरु के सम्बन्ध में और भी कई विघ्न हैं। बहुत से ऐसे हैं जो स्वयं अज्ञानी होते हुए भी अहंकार वस अपने

को सर्वज्ञ समझते हैं। यही नहीं, ये लोग औरों को भी अपने कन्धों पर लादने का दावा करते हैं। इसी तरह अंधे को अंधा मार्ग दिखाता है और दोनों कुएँ में गिर जाते हैं। "अज्ञान से आच्छादित अत्यन्त निर्बुद्धि होने पर भी अपने को प्रकाण्ड पण्डित समझने वाले ऐसे लोग चारों ओर घूमते हैं।"[1]

संसार ऐसे आदमियों से भरा पड़ा है। सभी गुरु बनना चाहते हैं, सभी भिखारी लक्ष-लक्ष दान देना चाहते हैं। जैसे यह भिखारी हास्यास्पद बन जाते हैं, वैसे ही ऐसे गुरु लोग।

१—अविद्यायामन्तरे विद्यमानाः।
स्वयंधीराः पण्डितम्मन्यमानाः।
जड़ धन्यमानाः परियन्तिमूढ़ाः।
अन्धेनैवनीयमानाः यथान्धाः॥
—मुण्डकोपनिषद १।२।८

५—गुरु और शिष्य के लक्षण

तो फिर गुरु की पहचान क्या है ? सूर्य को प्रकाश में लाने के लिए मशाल की आवश्यकता नहीं होती । उसे देखने के लिए हमें नहीं जलाना पड़ता । जब सूर्योदय होता है, तो हम अपने आप जान जाते हैं कि सूरज निकल आया । इसी प्रकार जब हमारी सहायता के लिए गुरु का आगमन होता है, तो आत्मा अपने आप जान लेती है कि उस पर अब सत्यसूर्य की किरणें पड़ने लगी हैं । सत्य स्वयं ही प्रमाण है—उसे प्रमाणित करने के लिए किसी दूसरे साक्षी की आवश्यकता नहीं, वह स्वप्रकाशी है । वह हमारी प्रकृति के अन्तस्थल तक प्रवेश कर जाता है और उसके सामने सारी दुनिया उठ खड़ी होती है और कहती है, 'यही सत्य है ।' जिन आचार्यों के हृदय में सत्य और ज्ञान सूर्य के समान प्रकाशित होते हैं, वे संसार में सर्वोच्च महापुरुष हैं और अधिकाँश मानव-जाति द्वारा उनकी उपासना ईश्वर के रूप में होती है । परन्तु उनकी अपेक्षा अल्प ज्ञान वाले व्यक्तियों से भी हम आध्यात्मिक सहायता ले सकते हैं । पर हम में वह अन्तर्दृष्टि नहीं है, जिससे हम गुरु के सम्बन्ध में ठीक विचार कर सकें । अतएव गुरु और शिष्य दोनों के सम्बन्ध में कुछ जाँच की शर्तें आवश्यक हैं ।

शिष्य के लिए यह आवश्यक है कि उसमें पवित्रता, सच्ची ज्ञान-पिपसा और अध्यवसाय हो । अपवित्र आत्मा कभी यथार्थ धार्मिक नहीं हो सकती । धार्मिक होने के लिए तन, मन और

वचन की शुद्धता अत्यन्त आवश्यक है। रही ज्ञान पिपासा की बात; इस सम्बन्ध में यह एक सनातन सत्य है कि 'जाकर जापर सत्य सनेहू, सो तेहि मिलहि न कुछ संदेहू'—हम जो चाहते हैं, वही पाते हैं। जिस वस्तु की हम अन्तः करण से चाह नहीं करते, वह हमें प्राप्त नहीं होती। धर्म के लिए सच्ची व्याकुलता होना बड़ी कठिन बात है। वह उतना सरल नहीं, जितना हम अनुमान करते हैं। धर्म सम्बन्धी बातें सुनना, धार्मिक पुस्तकें पढ़ना-केवल इतने से ही यह नहीं सोच लेना चाहिए कि हृदय में सच्ची पिपासा है। उसके लिए तो हमें अपने पाशविक स्वभाव के साथ निरन्तर जूझते रहना होगा, लगातार युद्ध करना होगा और उसे अपने वश में लाने के लिए निरन्तर प्रयत्न करना होगा। कब तक ? जब तक हमारे हृदय में धर्म के लिए सच्ची व्याकुलता उत्पन्न न हो जाय, जब तक विजय-श्री हमारे हाथ न लग जाय। यह कोई एक या दो दिन की बात तो है नहीं—कुछ वर्षों या कुछ जन्मों की भी बात नहीं; इसके लिए, सम्भव है, हमें सैकड़ों जन्मों तक इसी प्रकार संग्राम करना पड़े। हो सकता है, किसी को सिद्धि थोड़े समय में ही प्राप्त हो जाय; पर उसके लिए अनन्त काल तक भी बाट जोहनी पड़े, तो भी हमें तैयार रहना चाहिए। जो शिष्य इस प्रकार अध्यवसाय के साथ साधन में प्रवृत्त होता है, उसे सिद्धि अवश्य प्राप्त होती है।

गुरु के सम्बन्ध में यह जान लेना आवश्यक है कि उन्हें शास्त्रों का तत्व-ज्ञान हो। वैसे तो सारा संसार ही बाइबिल, वेद और कुरान पढ़ता है; पर वे तो केवल शब्दराशि हैं, धर्म की सूखी मठरी मात्र हैं। जो गुरु शब्दाडम्बर के चक्कर में पड़ जाते हैं जिनका मन शब्दों की शक्ति में बह जाता है, वे भीतर का तत्व खो बैठते हैं। जो शास्त्रों के वास्तविक मर्मज्ञ हैं वे ही असल में

सच्चे धार्मिक गुरु हैं। शास्त्रों का शब्दजाल एक घने बन के समान है, जिसमें मनुष्य का मन भटक जाता है और रास्ता ढूँढ़े भी नहीं मिलता। "शब्दजाल तो चित्त को भटकाने वाला एक महावन है।"[१] "विभिन्न प्रकार की शब्द-रचना, सुन्दर भाषा में बोलने की विभिन्न शैलियां और शास्त्र-मर्म की अनेक प्रकार से व्याख्या करना—ये सब पण्डितों के भोग के लिए ही हैं; इनसे अन्तर्दृष्टि का विकास नहीं होता।"[२] जो लोग इन उपायों से दूसरों को धर्म की शिक्षा देते हैं, वे केवल अपना पण्डित्य दिखाना चाहते हैं। उनकी यही इच्छा रहती है कि संसार उन्हें बहुत बड़ा विद्वान मानकर उनका आदर करे। संसार के प्रधान आचार्यों में से कोई भी शास्त्रों की इस प्रकार नानाविध व्याख्या करने के झमेले में नहीं पड़ता। उन्होंने श्लोक के अर्थ में खींचातानी नहीं की। वे शब्दार्थ और धात्वर्थ के फेर में नहीं पड़े। फिर भी उन्होंने संसार को बड़ी सुन्दर शिक्षा दी। इसके विपरीत, उन लोगों ने, जिनके पास सिखाने को कुछ भी नहीं, कभी एक-आध शब्द को ही पकड़ लिया और उस पर तीन भागों की एक मोटी पुस्तक लिख डाली, जिसमें, उस शब्द की उत्पत्ति कैसे हुई, किसने उस शब्द का सबसे पहले उपयोग किया, वह क्या खाता था, वह कितनी देर सोता था, आदि-आदि—इसी प्रकार की सब फिजूल बातें भरी हैं।

परमहंस श्रीरामकृष्ण एक कहानी सुनाया करते थे—"एक बार दो आदमी किसी बगीचे में घूमने गए। उनमें से एक, जिस की विषय-बुद्धि ज़रा तेज थी, बगीचे में घुसते ही हिसाब लगाने

१. शब्दजालं महारण्यं चितभ्रमकारणम्।—विवेकचूड़ामणि, ६२

२. वग्वैखरी शब्दझरी शास्त्रव्याख्यानकौशलम्।
वैदुष्यं विदुषां तद्वद्भुक्तये न तु मुक्तये॥
—विवेकचूड़ामणि, ६०

लगा—'यहाँ कितने पेड़ आम के हैं, किस पेड़ में कितने आम हैं, एक-एक डाली में कितनी पत्तियाँ हैं, बगीचे की कीमत कितनी हो सकती है—आदि-आदि।' पर दूसरा आदमी बगीचे के मालिक से भेंट करके, एक पेड़ के नीचे बैठ गया और मजे से एक-एक आम गिराकर खाने लगा। अब बताओ तो सही, इन दोनों में कौन ज्यादा बुद्धिमान है? आम खाओ तो पेट भी भरे, केवल पत्ते गिनने और हिसाब लगाने से क्या लाभ ?" यह पत्तियाँ और डालें गिनना तथा दूसरों को यह सब बताने का भाव बिलकुल छोड़ दो। यह बात नहीं कि इन सब की कोई उपयोगिता नहीं; है—पर धर्म के क्षेत्र में नहीं। इन 'पत्तियां गिनने वालों' में तुम एक भी आध्यात्मिक महापुरुष नहीं पाओगे। मानव-जीवन के सर्वोच्च ध्येय—मानव की महत्तम गरिमा—धर्म लिए इस पत्तियाँ गिनने के श्रम की आवश्यकता नहीं। यदि तुम भक्त होना चाहते हो तो तुम्हारे लिए यह जानना बिलकुल आवश्यक नहीं कि भगवान श्रीकृष्ण मथुरा में हुए थे या बृज में, वे करते क्या थे, और जब उन्होंने गीता की शिक्षा दी, तो उस दिन ठीक-ठीक तिथि क्या थी। गीता में कर्तव्य और प्रेम के सम्बन्ध में जो उच्च उपदेश दिये गए हैं उनको अपने जीवन में लाने का प्रयत्न करो—उनकी आवश्यकता हृदय से अनुभव करो। बस यही तुम्हारे लिए आवश्यक है। उसके तथा उसके प्रणेता के सम्बन्ध में अन्य सब विचार तो केवल विद्वानों के मनोरंजन के लिए हैं। वे जो चाहते हैं, करें। हम तो उनके पाण्डित्य पूर्ण विवाद पर केवल 'शांतिः-शांतिः कहेंगे और बस आम खायेंगे।

गुरु के लिए दूसरी आवश्यक बात है—निष्पापता। प्रायः पूछा जाता है "हम गुरु के चरित्र और व्यक्तित्व की ओर ध्यान ही क्यों दें ? हमें तो यही देखना चाहिए कि वे क्या कहते हैं, और बस उसे ग्रहण कर लेना चाहिए।" पर यह बात ठीक नहीं है।

यदि कोई मनुष्य मुझे गति-विज्ञान, रसायन-शास्त्र अथवा अन्य कोई भौतिक-विज्ञान सिखाना चाहे, तो उसका चरित्र कैसा भी हो सकता है, क्योंकि इन विषयों के लिए केवल तेज बुद्धि की आवश्यकता है; परन्तु आध्यात्म-विज्ञान के आचार्य यदि अशुद्ध-चित्त के हों, तो उनमें लेश मात्र भी धर्म का प्रकाश नहीं रह सकता। एक अशुद्धचित्त व्यक्ति हमें क्या धर्म सिखाएगा? अपने आध्यात्मिक सत्य की उपलब्धि करने और दूसर में उसका संचार करने का एकमात्र उपाय है—हृदय और मन की पवित्रता जब तक चित्त शुद्धि नहीं होता, तब तक भगवद्दर्शन अथवा उस अतीन्द्रिय सत्ता का आभास तक नहीं मिलता। अतएव गुरु के सम्बन्ध में हमें जान लेना होगा कि उनका चरित्र कैसा है; और तब फिर देखना होगा कि वे कहते क्या हैं। उन्हें पूर्ण रूप से शुद्ध-चित्त होना चाहिए, तभी उनके शब्दों का मूल्य होगा, क्योंकि केवल तभी वे सच्चे संचारक हो सकते हैं। यदि स्वयं उनमें आध्यात्मिक शक्ति न हो, तो वे संचार ही क्या करेंगे? उनके मन में आध्यात्मिकता का इतना प्रबल स्फुरण होना चाहिए, जिससे वह स्वाभाविक रूप से शिष्य के मन में संचारित हो जाय। वास्तव में गुरु का काम ही यह है कि वे शिष्य में आध्यात्मिक शक्ति का संचार कर दे, न कि शिष्य की बुद्धिवृति अथवा अन्य किसी शक्ति को उत्तेजित मात्र करें। यह स्पष्ट अनुभव किया जा सकता है कि गुरु से शिष्य में सचमुच एक शक्ति आ रही है। अतः गुरु का शुद्धचित होना अत्यन्त आवश्यक है।

गुरु के लिए तीसरी आवश्यक बात है—उद्देश्य। गुरु को धन नाम या यश सम्बन्धी स्वार्थ-सिद्धि के हेतु धर्म-शिक्षा नहीं देनी चाहिए। उनके कार्य तो सारी मानव-जाति के प्रति विशुद्ध प्रेम से ही प्रेरित हों। आध्यात्मिक शक्ति का संचार केवल शुद्ध प्रेम के

माध्यम से ही हो सकता है। किसी प्रकार का स्वार्थपूर्ण भाव, जैसे कि लाभ अथवा यश की इच्छा, तुरन्त ही इस प्रेमरूपी माध्यम को नष्ट कर देगी। भगवान प्रेमस्वरूप हैं, और जिन्होंने इस तत्त्व की उपलब्धि कर ली है, वे ही मनुष्य को शुद्धसत्त्व होनें और ईश्वर को जाननें की शिक्षा दे सकते हैं।

जब देखो कि तुम्हारे गुरु में ये सब लक्षण विद्यमान हैं, तो फिर तुम्हें कोई आशंका नहीं। अन्यथा उनसे शिक्षा ग्रहण करना ठीक नहीं; क्योंकि तब साधु-भाव संचारित होने के बदले असाधु भाव के संचारित हो जाने का बड़ा भय रहता है। अतः इस प्रकार के खतरे से हमें सब प्रकार से बचना चाहिए। केवल वही "जो शास्त्रज्ञ, निष्पाप, कामगन्धहीन और श्रेष्ठ ब्रह्मवित् है,"[1] सच्चा गुरु है।

जो कुछ कहा गया, उससे यह सुगमता से मालूम हो जाएगा कि धर्म में अनुरक्ति लाने के लिए, धर्म की बातें समझने के लिए और उन्हें अपने जीवन में ढालने के लिए उपयोगी शिक्षा हम किसी भी ऐरे-गैरे के पास नहीं प्राप्त कर सकते। "पर्वत उपदेश देते हैं, कलकल बहने वाले झरने विद्या बिखेरते जाते हैं और सर्वत्र शुभ-ही शुभ-है" १ ये सब बातें कवित्व की दृष्टि से भले ही बड़ी सुन्दर हों; पर जब तक स्वयं मनुष्य में सत्य का बीज अपरिस्फुट भाव में भी नहीं है, तब तक दुनियां की कोई भी चीज उसे सत्य का एक कण तक नहीं दे सकती। पर्वत और झरने किसे उपदेश देते हैं? —उसी मानवात्मा को, जिसके पवित्र हृदय-मन्दिर का कमल खिल चुका है। और उसे इस प्रकार सुन्दर रूप से विकसित करने वाला ज्ञान-प्रकाश सद्गुरु से ही आता है। जब हृदल-कमल

१श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतो यो ब्रह्मवित्तमः।
—विवेकचूड़ाचरिण, ३४

इस प्रकार खिल जाता है, तब वह पर्वत, झरने, नक्षत्र, सूर्य, चन्द्र अथवा इस ब्रह्ममय विश्व में जो कुछ है, सभी से शिक्षा ग्रहण कर सकता है,। परन्तु जिसका हृदय,कमल अभी तक खिला नहीं, वह तो इन सबमें पर्वत आदि के सिवा और कुछ न देख पाएगा। एक अंधा यदि अजायबघर में जाय, तो उससे क्या होगा ? पहले उसे आँखें दो, तब कहीं वह समझ सकेगा कि वहाँ की भिन्न-भिन्न वस्तुओं से क्या शिक्षा मिल सकती है।

गुरु ही धर्म जिज्ञासु की आंखें खोलने वाले होते हैं। अतः गुरु के साथ हमारा सम्बन्ध ठीक वैसा ही है, जैसा पूर्वज के साथ उसके वंशज का। गुरु के प्रति विश्वास, नम्रता, विनय और श्रद्धा के बिना हममें धर्म-भाव पैदा हो ही नहीं सकता। और यह एक महत्त्वपूर्ण बात है कि जिन देशों में गुरु और शिष्य में इस प्रकार का सम्बन्ध विद्यमान है, केवल वहीं असाधारण आध्यात्मिक पुरुष उत्पन्न हुए हैं; और जिन देशों में इस प्रकार के गुरु-शिष्य सम्बन्ध की उपेक्षा हुई है, वहीं धर्मगुरु एक उपदेशक मात्र रह गया है—गुरु को मतलब रहता है अपनी 'दक्षिणा' से और शिष्य को मतलब रहता है गुरु के शब्दों से, जिन्हें वह अपने मस्तिष्क में ठूँस लेना चाहता है। यह हो गया है कि बस दोनों अपना-अपना रास्ता पकड़ते हैं। वहाँ आध्यात्किता नहीं के बराबर ही रहती है—न कोई शक्ति-संचार करने वाला होता है और न कोई उसको ग्रहण करने वाला। ऐसे लोगों के लिए धर्म एक धन्धा हो

1–And this our life exmept from public haunt,
Finds tongues in trees, books in the running brooks.
Sermones in stons and good in everything.
—Shakespeares 'As you like it,' Act II, Sc-I.

जाता है वे उसे खरीद सकते हैं। ईश्वर कर्ता धर्म इतना सुलभ हो जाता ! पर दुर्भाग्य से ऐसा हो नहीं सकता।

धर्म ही सर्वोच्च ज्ञान है—वही सर्वोच्च विद्या है। वह न पैसों से मिल सकती है श्रौर न पुस्तकों से ही। तुम भले ही संसार का कोना-कोना छान मारो, हिमालय, श्राल्प्स श्रौर काकेशस के शिखर पर चढ़ जाश्रो, श्रथाह समुद्र का तल भी नाप डालो, तिब्वत श्रौर गोबी-मरुभूमि की धूल छान डालो, पर जब तक तुम्हारा हृदय धर्म को ग्रहण करने के लिए तैयार नहीं हो जाता श्रौर जब तक सच्चे गुरु का संग नहीं होता, तब तक तुम धर्म को नहीं पाश्रोगे। श्रौर जब ये विधाता निर्दिष्ट गुरु प्राप्त हो जाएँ, तो उनके निकट बालक की तरह विश्वास श्रौर सरलता के साथ श्रपना हृदय खोल दो, श्रौर साक्षात् ईश्वर दृष्टि से उनकी सेवा करो। जो लोग इस प्रकार सम श्रौर श्रद्धा सम्पन्न होकर सत्य की खोज करते हैं, उनके निकट सत्यस्वरूप भगवान सत्य, शिव श्रौर सुन्दर के श्रलौकिक तत्त्वों को प्रकट कर देते हैं।

६—अवतार

जहाँ प्रभु का गुणगान होता हो, वही स्थान पवित्र है। तो फिर जो मनुष्य प्रभु का गुणगान करता है, वह तो और भी पवित्र होगा! अतएव जिनसे हमें आध्यात्मिक शिक्षा प्राप्त होती है, उनके समीप हमें कितनी भक्ति के साथ जाना चाहिए! यह सत्य है कि संसार में ऐसे धर्मगुरुओं की संख्या बहुत थोड़ी है, पर यह बात नहीं कि संसार ऐसे महापुरुषों से कभी शून्य हो जाय। वे तो मानवजीवन-उद्यान के सुन्दरतम पुष्प हैं और 'अहैतुक दयासिन्धु' हैं।[1] भगवान श्रीकृष्ण भागवत में कहते हैं, 'मुझे ही आचार्य जानो।'[2] यह संसार ज्योंही इन आचार्यों से बिलकुल रहित हो जाता है, त्योंही यह एक भयंकर नरककुण्ड बन जाता है और नाश की ओर तीव्र वेग से बढ़ने लगता है।

साधारण गुरुओं से श्रेष्ठ एक और श्रेणी के गुरु होते हैं, और वे हैं—इस संसार में ईश्वर के अवतार। वे केवल स्पर्श से, यहाँ तक कि इच्छा मात्र से ही आध्यात्मिकता प्रदान कर सकते हैं। उनकी इच्छा से पतित-से-पतित व्यक्ति भी क्षण भर में साधु हो जाता है। वे गुरुओं के भी गुरु हैं—नरदेह-धारी भगवान ही हैं। उनके माध्यम के बिना हम अन्य किसी भी उपाय से भगवान को नहीं देख सकते। हम उनकी उपासना

---

१ विवेकचूड़ामणि, ३५

२ आचार्यं मां विजानीयात् इत्यादि।—श्री मदभगावत् ११।१७।२६

किए बिना रह ही नहीं सकते। और वास्तव में वे ही एकमात्र ऐसे हैं, जिनकी उपासना करने के लिए हम बाध्य हैं।

इन नरदेहधारी ईश्वरावतारों के माध्यम के बिना कोई मनुष्य ईश्वर-दर्शन नहीं कर सकता। जब हम अन्य किसी साधन द्वारा ईश्वर-दर्शन का यत्न कर सकते हैं, तो हम अपने मन में ईश्वर का एक विचित्र-सा रूप गढ़ लेते हैं और सोचते हैं कि बस, यही ईश्वर का सच्चा रूप है। एक बार एक अनाड़ी आदमी से भगवान शिव की मूर्ति बनाने को कहा गया। कई दिनों के कठिन परिश्रम के बाद उसने एक मूर्ति तैयार तो की, पर वह बन्दर जैसी थी! इसी प्रकार जब हम भगवान् को उनके मस्तिष्क रूप में—उनके निर्गुण, पूर्ण स्वरूप में सोचने का प्रयत्न करते हैं, तो हम अनिवार्य रूप से उसमें बुरी तरह असफल होते हैं; क्योंकि जब तक हम मनुष्य हैं, तब तक मनुष्य से उच्चतर रूप में हम उनकी कल्पना ही नहीं कर सकते। एक समय ऐसा आयगा, जब हम अपनी मानवी प्रकृति के परे चले जायँगे, और तब हम उन्हें उनके असली स्वरूप में देख सकेंगे। पर जब तक हम मनुष्य हैं, तब तक हमें उनकी उपासना मनुष्य में और मनुष्य के रूप में ही करनी होगी। तुम चाहे कितनी ही लम्बी-चौड़ी बातें क्यों न करो, कितना प्रयत्न क्यों न करो, पर तुम भगवान को मनुष्य के सिवा और कुछ सोच ही नहीं सकते। तुम भले हो ईश्वर और संसार की सारी वस्तुओं पर विद्वत्ता-पूर्ण लम्बी-लम्बी वक्तृताएँ दे डालो, बड़े युक्तिवादी बन जाओ और अपने मन को समझा लो कि ईश्वरावतार की ये सब बातें व्यर्थ हैं, पर क्षणभर के लिए सहज बुद्धि से विचार तो करो। इस प्रकार की अद्भुत विचार-बुद्धि से क्या प्राप्त होता है? कुछ नहीं —शून्य, केवल कुछ शब्दों का ढेर! अब भविष्य में जब कभी

तुम किसी मनुष्य को अवतारपूजा के विरुद्ध एक बड़ा विद्वत्ता-पूर्ण भाषण देते हुए, सुनो, तो सीधे उसके पास चले जाना और पूछना कि उसकी ईश्वर सम्बन्धी धारणा क्या है, 'सर्वशक्तिमान, 'सर्वव्यापी' आदि शब्दों का उच्चारण करने से वह शब्द-ध्वनि के अतिरिक्त और क्या समझता है ?—तो देखोगे, वास्तव में वह कुछ नहीं समझता। वह उनका ऐसा कोई अर्थ नहीं लगा सकता, जो उसकी अपनी मानवी प्रकृति से प्रभावित न हो। इस बात में तो उसमें और रास्ता चलने वाले एक अपढ़ व्यक्ति गँवार में कोई अन्तर नहीं। फिर भी यह अपढ़ व्यक्ति कहीं अच्छा है, क्योंकि कम-से-कम वह शान्ति तो भंग नहीं करता; पर यह लम्बी-लम्बी बातें करने वाला व्यक्ति मनुष्य-जाति में अशान्त और दुःख पैदा कर देता है। धर्म का अर्थ है प्रत्यक्ष अनुभूति। अतएव इस अनुभूति और थोथी बात के बीच जो विशेष भेद है, उसे हमें अच्छी तरह पकड़ लेना चाहिए। आत्मा के गम्भीरतम प्रदेश में हम जो अनुभव करते हैं, वही प्रत्यक्षानुभूति है। इस सम्बन्ध में सहज बुद्धि जितनी अ-सहज (दुर्लभ) है, उतनी और कोई वस्तु नहीं।

हम अपनी वर्त्तमान प्रकृति से सीमित हो परमात्मा को केवल मनुष्य-रूप में ही देख सकते हैं। मान लो भैंसों की इच्छा हुई कि भगवान की उपासना करें—तो वे अपने स्वभाव के अनुसार भगवान को एक बड़े भैंसे के रूप में देखेंगे। यदि एक मछली भगवान की उपासना करना चाहे, तो उसे भगवान को एक बड़ी मछली के रूप में सोचना होगा। इसी प्रकार मनुष्य भी भगवान को मनुष्य-रूप में ही देखता है। यह न सोचना कि ये सब विभिन्न धारणाएँ केवल विकृत कल्पनाओं से उत्पन्न हुई हैं। मनुष्य, भैंसा, मछली—ये सब मानो भिन्न-भिन्न बरतन हैं; ये

सब बरतन अपनी-अपनी आकृति और जल-ग्रहण शक्ति के अनुसार ईश्वररूपी समुद्र के पास अपने को भरने के लिए जाते हैं। पानी मनुष्य में मनुष्य का रूप ले लेता है, भैंसे में भैंसे का और मछली में मछली का। प्रत्येक बरतन में वही ईश्वर रूपी समुद्र का जल है। जब मनुष्य ईश्वर को देखता है, तो वह उन्हें मनुष्य-रूप में देखता है। और यदि पशुओं में ईश्वर सम्बन्धी कोई ज्ञान रहे तो वे उन्हें अपनी-अपनी धारणा के अनुसार पशु के रूप में देखेंगे। अतः हम ईश्वर को मनुष्य-रूप के अतिरिक्त अन्य किसी रूप में भी नहीं देख सकते और इसलिए हमें मनुष्य-रूप में ही उसकी उपासना करनी पड़ेगी। इसके सिवा अन्य कोई चारा नहीं है।

दो प्रकार के लोग ईश्वर की मनुष्य रूप में उपासना नहीं करते। एक तो नरपशु, जिसे धर्म का कोई ज्ञान नहीं और दूसरे परमहंस, जो मानव-जाति की सारी दुर्बलताओं के ऊपर उठ चुके होते हैं और जो अपनी मानवी प्रकृति की सीमा के भी उस पार चले गये हैं। उनके लिए सारी प्रकृति आत्मा--स्वरूप हो गई है। वे ही भगवान को उनके वास्तविक स्वरूप में भज सकते हैं। अन्य विषयों के समान यहाँ भी दोनों चरम भाव एक-से ही दिखते हैं। अतिशय अज्ञानी और परम ज्ञानी दोनों ही उपासना नहीं करते। नरपशु अज्ञानवश उपासना नहीं करता, और जीवन्मुक्त ने तो अपनी आत्मा में ही परमात्मा का प्रत्यक्ष अनुभव कर लिया होता है, अतः उनके लिए उपासना की फिर आवश्यकता कहाँ? इन दो चरम अवस्थाओं के बीच रहने वाला कोई मनुष्य यदि आकर तुमसे कहे कि वह भगवान की मनुष्य-रूप में भजने वाला नहीं है, तो उस पर रहम करना। उसे अधिक क्या कहें, वह बस थोथी बकवास करने वाला है। उसका धर्म अविकसित और खोखली बुद्धि वालों के लिए है।

भगवान मनुष्य की कमजोरियों को जानते हैं और मानवता के कल्याण के लिए नवदेह धारण करते हैं। भगवान श्री कृष्ण ने अवतार के सम्बन्ध में गीता में कहा है, "जब-जब धर्म की ग्लनि होती है और अधर्म का अभ्युत्थान होता है, तब-तब मैं अवतार लेता हूँ। साधुओं की रक्षा और दुष्टों के नाश के लिए धर्म-संस्थापनार्थ में युग-युग में अवतीर्ण होता हूँ।"[1]
"मूर्ख लोग मुझ जगदीश्वर के यथार्थ स्वरूप को न जानने के कारण मुझ नरदेहधारी की अवहेलना करते हैं।"[2] भगवान श्री रामकृष्ण देव कहते थे, "जब एक बड़ी लहर आती है, तो छोटे-छोटे नाले और गड्ढे अपने आप लबालब भर जाते हैं। इसी प्रकार जब एक अवतार जन्म लेता है, तो सारे संसार में आध्यात्मिकता की बाढ़ आ जाती है और लोग वायु के कण-कण में धर्मभाव का अनुभव करने लगते हैं।"

---

१ यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे-युगे॥ —गीता, ४।७ ८

२ अवजानन्ति मां मुढा मानुषी तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥ —गीता, ६।११

७—मंत्र

इन अवतारी महापुरुषों के वर्णन के बाद अब हम सिद्ध गुरुओं की चर्चा करेंगे। उन्हें मंत्र द्वारा शिष्य में आध्यात्मिक ज्ञान का बीजारोपण करना पड़ता है। ये मंत्र क्या हैं? भारतीय दर्शन के अनुसार नाम और रूप ही इस जगत् की अभिव्यक्ति के कारण हैं। मानवी अन्तर्जगत् में एक भी ऐसी चित्तवृत्ति नहीं रह सकती, जो नाम-रूपात्मक न हो। यदि यह सत्य हो कि प्रकृति सब जगह एक ही नियम से निर्मित है, तो फिर इस नाम रूपात्मकता को समस्त ब्रह्माण्ड का नियम कहना होगा।" जैसे मिट्टी के एक पिण्ड को जान लेने से मिट्टी की सब चीजों का ज्ञान हो जाता है,"[१] उसी प्रकार इस देहपिण्ड को जान लेने से समस्त विश्वब्रह्माण्ड का ज्ञान हो जाता है। रूप, वस्तु का मानो छिलका है और नाम या भाव भीतर का गूदा। शरीर है रूप और मन या अन्तःकरण है नाम; और वाक्शक्तिसंयुक्त समस्त प्राणियों से इस नाम के साथ उसके वाचक शब्दों का अभेद्य योग रहता है। मनुष्य के भीतर महत् या चित्त में विचार-तरंगें पहले शब्द के रूप में उठती हैं और फिर बाद में वे तदपेक्षा स्थूलतर रूप धारण करती हैं।

बृहत् ब्रह्माण्ड में भी ब्रह्मा, हिरण्यगर्भ या महत् ने पहले अपने को नाम के, और फिर बाद में रूप के आकार में अर्थात्

---

१. यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्यात्—इत्यादि
—छान्दोग्य उपनिषद्, ६।१।४

इस परिदृश्यमान जगत् के आकार में प्रकट किया। यह सारा प्रकट इन्द्रियग्राह्य जगत् रूप है, और इसके पीछे है अनन्त अप्रकट स्फोट। स्फोट का अर्थ है—समस्त जगत् के प्रकटीकरण का कारण शब्द-ब्रह्म। समस्त नामों अर्थात् भावों का नित्य-समवायी उपादनस्वरूप यह नित्य स्फीट ही वह शक्ति है, जिससे भगवान इस विश्व की सृष्टि करते हैं। यही नहीं, बल्कि भगवान पहले स्फोट-रूप में परिणत हो जाते हैं और उसके बाद अपने को उससे भी स्थूल इन्द्रियग्राह्य जगत् के रूप में परिणत कर लेते हैं। इस स्फोट का एकमात्र वाचक-शब्द है 'ॐ'। और चूँकि हम किसी भी उपाय से शब्द को भाव से अलग नहीं कर सकते, इसलिए यह 'ॐ' भी इस नित्य स्फोट से नित्य-संयुक्त है। अतएव समस्त विश्व की उत्पत्ति सारे नाम-रूपों की जननीस्वरूप इस ओंकार-रूप पवित्रतम शब्द से ही मानी जा सकती है। इस सम्बन्ध में यह शंका उत्पन्न हो सकती है कि यद्यपि शब्द और भाव में नित्य सम्बन्ध है, तथापि एक ही भाव के अनेक वाचक-शब्द हो सकते हैं, इसलिए यह आवश्यक नहीं कि यह 'ॐ' नामक शब्दविशेष ही सारे जगत् की अभिव्यक्ति के कारणस्वरूप भाग का वाचक हो। तो इस पर हमारा उत्तर यह है कि एकमेव यह 'ॐ' ही इस प्रकार सर्वभावव्यापी वाचक-शब्द है, अन्य कोई भी उसके समान नहीं। स्फोट ही सारे भावों का उपादान है, फिर भी वह स्वयं पूर्ण रूप से विकसित कोई विशिष्ट भाव नहीं है। अर्थात् यदि उन सब भेदों को, जो एक भाव को दूसरे से अलग करते हैं, निकाल दिया जाय, तो जो कुछ बच रहता है, वही स्फोट है। इसी लिए इस स्फोट को 'नादब्रह्म' कहते हैं। अब बात यह है कि इस अव्यक्त स्फोट को प्रकाशित करने के लिए यदि किसी वाचक-शब्द का उपयोग किया जाय, तो वह शब्द उसे इतना विशिष्ट कर देता

है कि उसका फिर स्फोटत्व ही नहीं रह जाता। इसी लिए जो वाचक-शब्द उसे सबसे कम विशेषभावापन्न करेगा, पर साथ ही उसके स्वरूप को यथासम्भव पूरी तरह प्रकाशित करेगा, वही उसका सबसे सच्चा वाचक होगा। और यह वाचक-शब्द है एकमात्र 'ॐ'; क्योंकि ये तीनों अक्षर अ, उ और म्, जिनका एक साथ उच्चारण करने से 'ॐ' होता है, समस्त शब्दों के साधारण वाचक के तौर पर लिए जा सकते हैं। अक्षर 'अ' सारे अक्षरों में सब से कम विशेषभावापन्न है। इसीलिए भगवान् कृष्ण गीता में कहते हैं—"अक्षरों में मैं 'अ' कार हूँ।"[1] स्पष्ट रूप से उच्चारित जितने भी शब्द हैं, उनकी उच्चारण-क्रिया मुख में जिह्वा के मूल से आरम्भ होती है और ओठों में आकर समाप्त हो जाती है। 'अ' जिह्वामूल अर्थात् कण्ठ से उच्चारित होता है, और 'म्' ओठों से होने वाला अन्तिम शब्द है। और 'उ' उस शक्ति का सूचक है, जो जिह्वामूल से आरम्भ होकर मुँह भर में लुढ़कती हुई ओठों में आकर समाप्त होती है। यदि इस 'ॐ' का उच्चारण ठीक ढंग से किया जाय, तो इससे शब्दोच्चारण की सम्पूर्ण क्रिया सम्पन्न हो जाती है—दूसरे किसी भी शब्द में यह शक्ति नहीं। अतएव यह 'ॐ' ही स्फोट का सबसे उपयुक्त वाचक-शब्द है—और यह स्फोट ही 'ॐ' का प्रकृत वाक्य है। और चूँकि वाचक वाच्य से कभी अलग नहीं हो सकता, इसलिए 'ॐ' और स्फोट अभिन्न हैं। फिर, यह स्फोट इस व्यक्त जगत् का सूक्ष्मतम अंश होने के कारण ईश्वर के अत्यन्त निकटवर्ती है तथा ईश्वरीय ज्ञान की प्रथम अभिव्यक्ति है; इसीलिए 'ॐ' ही ईश्वर का सच्चा वाचक है। और जिस प्रकार अपूर्ण जीवात्मागण एकमेव अखण्ड सच्चिदानन्द ब्रह्म का चिन्तन विशेष-विशेष भाव से और विशेष-विशेष गुणों से

१—अक्षराणामकारोऽस्मि। —गीता, १०।३३

युक्त रूप में ही कर सकते हैं, उसी प्रकार उसके देहरूप इस अखिल ब्रह्माण्ड का चिन्तन भी, साधक के मनोभाव के अनुसार विभिन्न रूपों से करना पड़ता है।

साधक मन में जब जिस प्रकार के तत्त्व प्रबल होते हैं, तब उसी प्रकार के भाव जागृत होते हैं। फल यह है कि एक ही ब्रह्म भिन्न-भिन्न रूप में भिन्न-भिन्न गुणों की प्रधानता से युक्त दीख पड़ता है और वही एक विश्व विभिन्न रूपों में प्रतिभात होता है। जिस प्रकार अल्पतम विशेषभावापन्न तथा सार्वभौमिक वाचक-शब्द 'ॐ' के सम्बंध में, वाच्य और वाचक आपस में अभेद्य रूप से सम्बद्ध हैं, उसी प्रकार वाच्य और वाचक का यह अविच्छिन्न सम्बन्ध भगवान और विश्व के विभिन्न खण्ड भावों पर भी लागू है। अतएव उनमें से प्रत्येक का एक विशिष्ट वाचक शब्द होना आवश्यक है। ये वाचक-शब्द ऋषियों की गम्भीरतम आध्यात्मिक अनुभूति से उत्पन्न हुए हैं, और वे भगवान तथा विश्व के जिन विशेष-विशेष खण्ड भावों के वाचक हैं, उन विशेष भावों को यथासम्भव प्रकाशित करते हैं। जिस प्रकार 'ॐ' अखण्ड ब्रह्म का वाचक है, उसी प्रकार अन्य मंत्र भी उसी परमपुरुष के खण्ड-खण्ड भावों के वाचक हैं। ये सभी ईश्वर के ध्यान और प्रकृत ज्ञान की प्राप्ति में सहायक हैं।

८—प्रतीक तथा प्रतिमा की उपासना

अब हम प्रतीकोपासना तथा प्रतिमा-पूजन का विवेचन करेंगे। प्रतीक का अर्थ है वे वस्तुएँ, जो थोड़े-बहुत अंश में ब्रह्म स्थान में उपास्य-रूप से ली जा सकती हैं। प्रतीक द्वारा ईश्वरोपासना का क्या अर्थ है? इस सम्बन्ध में श्री रामानुज कहते हैं, "जो वस्तु ब्रह्म नहीं है, उसमें ब्रह्मबुद्धि करके ब्रह्म का अनुसन्धान (प्रतीकोपासना कहलाता है)।"[1] भगवान शंकराचार्य कहते हैं, "मन की ब्रह्म-रूप से उपासना करो, यह आध्यात्मिक उपासना है; और आकाश ब्रह्म है, यह आधिदैविक।" मन आभ्यतिरिक प्रतीक है और आकाश बाह्य। इन दोनों की ही उपासना ब्रह्म के रूप में करनी होगी। वे कहते हैं, "इसी प्रकार—'आदित्य ही ब्रह्म है, यह आदेश है'...जो नाम को ब्रह्म के रूप में भजता है'—इन सब वाक्यों से प्रतीकोपासना के सम्बन्ध में संशय उत्पन्न होता है...।"[2] प्रतीक शब्द का अर्थ है—बाहर की ओर जाना, और प्रतीकोपासना का अर्थ है, ब्रह्म के स्थान में ऐसी किसी वस्तु की उपासना करना, जो कुछ या

१—अब्रह्मणि ब्रह्मदृष्टयाऽनुसन्धानम्। -ब्रह्मसूत्र, रामानुजभाष्य, ४।१।५

२—'मनो ब्रह्मेत्युपासीतेत्यध्यात्मम्।'

'अथाधिदैवतमाकाशो ब्रह्मेति।'

तथा 'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः।'

'सत्य नाम ब्रह्मेत्युपास्ते' इत्येवमादिषू प्रतीकोपासनेषु संशयः।

—ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य, ४।१।५

अधिक अंशों में ब्रह्म के सदृश हो, पर स्वयं ब्रह्म न हो। श्रुतियों में वर्णित प्रतीकों के सिवा पुराणों और तंत्रशास्त्रों में भी प्रतीकों का उल्लेख है। सब प्रकार की पितृ-उपासना और देवोपासना इस प्रतीकोपासना के अन्तर्युक्त की जा सकती है।

अब बात यह है कि एकमात्र ईश्वर की उपासना ही भक्ति है। देव, पितर या अन्य किसी की भी उपासना भक्ति नहीं कही जा सकती। विभिन्न देवताओं की जो विभिन्न उपासना पद्धतियाँ हैं, उनकी गिनती कर्मकाण्ड में ही की जाती है। उसके द्वारा उपासक को स्वर्ग-भोग आदि के रूप में एक विशेष फल ही मिलता है, उससे न भक्ति होती है, न मुक्ति। इसलिए हमें एक बात आमतौर से ध्यान में रखनी चाहिए कि जब कभी दर्शनशास्त्रों के उच्चतम आदर्श पर ब्रह्म को उपासक, प्रतीकोपासना द्वारा प्रतीक के स्तर पर नीचे खींच लाता है और स्वयं प्रतीक को ही अपनी आत्मा-अपना अन्तर्यामी समझ बैठता है, तो वह सम्पूर्ण रूप से पथ भ्रष्ट हो जाता है; क्योंकि प्रतीक कभी भी उपासक की आत्मा नहीं हो सकता। परन्तु जहाँ स्वयं ब्रह्म ही उपास्य होता है और प्रतीक उसका केवल प्रतिनिधि अथवा उसके उद्दीपन का कारण मात्र होता है—अर्थात् जहाँ प्रतीक के सहारे सर्वव्यापी ब्रह्म की उपासना की जाती है और प्रतीक मात्र न देखकर उसका जगत्-कारण ब्रह्म के रूप में चिन्तन किया जाता है, वहाँ उपासना निश्चित रूप से फलवती होती है। इतना ही नहीं, बल्कि उपासक का मन जब तक उपासना की प्रारम्भिक या गौणी अवस्था को नहीं पार कर जाता, तब तक तो उसके लिए यह बिल्कुल अनिवार्य ही है। अतएव जब किसी देवता या अन्य किसी पुरुष के रूप में ही की जाती है, तो इस प्रकार की उपासना एक कर्म मात्र है। और वह एक विद्या होने के कारण, उपासक उस विशेष विद्या का

फल भी प्राप्त करता है। परन्तु जब उस देवता या उस पुरुष को ब्रह्मरूप मानकर उसकी उपासना की जती है, तो उससे वही फल मिलता है, जो ईश्वरोपासना से। इसीसे यह स्पष्ट है कि श्रुतियों और स्मृतियों के अनेक स्थलों में किस प्रकार किसी देवता, महापुरुष अथवा अन्य किसी अलौकिक पुरुष को लिया गया है, और उन्हें उनके देवत्व आदि स्वभाव से ऊपर उठा, उनकी ब्रह्मरूप से उपासना की गई है। अद्वैतवादी कहते हैं, 'नाम-रूप को अलग कर लेने पर क्या प्रत्येक वस्तु ब्रह्म नहीं है ?' विशिष्टाद्वैतवादी कहते हैं, 'वे प्रभु क्या सबकी अन्तरात्मा नहीं है ?' श्री शंकराचार्य अपने ब्रह्मसूत्रभाष्य में कहते हैं—"आदित्य आदि की उपासना का फल वह ब्रह्म ही देता है, क्यों कि वही सबका नियन्ता है। जिस प्रकार प्रतिमा में विष्णु-दृष्टि आदि करनी पड़ती है, उसी प्रकार प्रतीकों में भी ब्रह्म-दृष्टि करनी पड़ती है। अतएव समझना होगा कि यहाँ पर वास्तव में ब्रह्म की ही उपासना की जा रही है"[1]

प्रतीक के सम्बन्ध में जो बातें कही गई हैं, वे सब प्रतिमा के सम्बन्ध में भी घटती हैं—अर्थात् यदि प्रतिमा किसी देवता या किसी महापुरुष की प्रतीक हो, तो ऐसी उपासना भक्ति-प्रसूत नहीं है और वह हमें मुक्ति नहीं दे सकती। पर यदि वह उसी एक परमेश्वर की प्रतीक हो, तो उस उपासना से भक्ति और मुक्ति दोनों प्राप्त हो सकती हैं। संसार के मुख्य धर्मों में से वेदान्त, बौद्ध धर्म और ईसाई धर्म के कुछ सम्प्रदाय बिना किसी आपत्ति के प्रतिमाओं के उपयोग करते हैं। केवल इस्लाम और

---

१. फलमादित्याद्युपासनेषु ब्रह्मैव दास्यति सर्वाध्यक्षत्वात्। ईदृशं चात्र ब्रह्मण उपास्यत्वं यतः प्रतीकेषु तद्दृष्टयाध्यारोपणं प्रतिमादिषु इव बिष्णवादीनाम। —ब्रह्मसूत्र, शंकरभाष्य, ४।१।५

प्रोटेस्टण्ट ये ही दो ऐसे धर्म हैं, जो इस सहायता की आवश्यकता नहीं मानते। फिर भी, मुसलमान प्रतिमा के स्थान पर अपने पीरों और शहीदों की कब्रों की पूजा करते हैं। और प्रोटेस्टण्ट सम्प्रदाय के लोग धर्म में सब प्रकार की बाह्य सहायता का तिरस्कार कर धीरे-धीरे वर्ष-प्रतिवर्ष आध्यात्मिकता से दूर हटते चले जा रहे हैं, यहाँ तक कि, आजकल, अग्रगण्य प्रोटेस्टण्टों और केवल नीतिवादी आँगस्ट कॉम्टे के शिष्यों तथा अज्ञेयवादियों में कोई अन्तर नहीं रह गया है। फिर, ईसाई और इस्लाम धर्म में जो कुछ प्रतिमा-उपासना मौजूद है, वह उसी श्रेणी की है, जिसमें प्रतीक या प्रतिमा की उपासना केवल प्रतीक या प्रतिमा-रूप से होती है—ब्रह्मदृष्टि से नहीं। अतएव वह कर्मकाण्ड के ही समान है—उससे न भक्ति मिल सकती है, न मुक्ति। इस प्रकार की प्रतिमा-पूजा में उपासक ईश्वर को छोड़ अन्य वस्तुओं में आत्मसमर्पण कर देता है और इसलिए प्रतिमा कब्र, मन्दिर आदि के इस प्रकार उपयोग को ही सच्ची मूर्ति-पूजा कहते हैं। पर वह न तो कोई पापकर्म है और न कोई अन्याय – वह तो बस एक कर्म मात्र है, और उपासकों को उसका फल भी अवश्य मिलता है।

६---इष्टनिष्ठा

अब हम इष्टनिष्ठा के सम्बन्ध में विचार करेंगे। जो भक्त होना चाहता है, उसे यह जान लेना चाहिए कि 'जितने मत हैं, उतने ही पथ।' उसे यह अवश्य जान लेना चाहिए कि विभिन्न धर्मों के भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय उसी प्रभु की महिमा की अभिव्यक्तियाँ हैं। "लोग तुम्हें कितने नामों से पुकारते हैं। लोगों ने विभिन्न नामों से तुम्हें विभाजित-सा कर दिया है। परन्तु फिर भी प्रत्येक नाम ने तुम्हारी पूर्ण शक्ति वर्त्तमान है इन सभी नामों से तुम उपासक को प्राप्त हो जाते हो। यदि हृदय में तुम्हारे प्रति अनन्य निष्ठा रहे, तो तुम्हें भजने का कोई विशेष समय भी नहीं। तुम्हें पाना इतना सहज होते हुए भी, मेरे प्रभु, यह मेरा दुर्भाग्य ही है, जो तुम्हारे प्रति मेरा अनुराग नहीं हुआ।[1] इतना ही नहीं, भक्त को यह भी ध्यान रखना चाहिए कि अन्य धर्म-सम्प्रदायों के तेजस्वी प्रवर्तकों के प्रति उसके मन में घृणा उत्पन्न न हो, वह उनकी निन्दा न करे और न कभी उनकी निन्दा सुने ही। ऐसे लोग वास्तव में बहुत थोड़े होते हैं, जो अत्यन्त उदार तथा दूसरों के गुण परखने में असमर्थ हों और साथ ही प्रगाढ़ प्रेम सम्पन्न भी हों। प्रायः हम देखते हैं कि उदार विचार वाले

---

१. नाम्नामकारि बहुधा निजसर्वशक्ति-
स्तत्रार्पिता नियमितः स्मरणं न कालः।
एतादृशी तव कृपा भगवन ममापि
दुर्दैवमीदृशमिहाजनि नानुरागः॥ —श्री कृष्ण चैतन्य।

सम्प्रदाय अपने धर्मादेश के प्रति प्रेम की गम्भीरता खो बैठते हैं। उनके लिए धर्म एक प्रकार से सामाजिक और राजनीतिक भावों में रँगी एक समिति के रूप में ही रह जाता है। और दूसरी ओर बड़े ही संकीर्ण सम्प्रदाय के लोग हैं, जो अपने-अपने इष्ट के प्रति बड़ी भक्ति प्रदर्शित तो करते हैं, पर उन्हें इस भक्ति का प्रत्येक कण अपने से भिन्न मत वालों के प्रति केवल घृणा से प्राप्त हुआ है। कैसा अच्छा होता, यदि भगवान् की दया से यह संसार ऐसे लोगों से भरा होता, जो परम उदार और साथ ही गम्भीर प्रेम-भक्त हों! पर खेद है, ऐसे लोग बहुत थोड़े होते हैं! फिर भी हम जानते हैं कि बहुत से लोगों को ऐसे आदर्श में शिक्षित करना सम्भव है, जिसमें प्रेम की गम्भीरता और उदार का अपूर्व समन्वय हो। और ऐसा करने का उपाय है यह इष्ट-निष्ठा। भिन्न-भिन्न धर्मों के भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय मनुष्य-जाति के सम्मुख केवल एक-एक आदर्श रखते हैं, परन्तु सनातन वेदान्त-धर्म ने तो भगवान् के मन्दिर में प्रवेश करने के लिए अनेकानेक मार्ग खोल दिए हैं और मनुष्य-जाति के सम्मुख असंख्य आदर्श उपस्थित कर दिए हैं। इन आदर्शों में से प्रत्येक उस अनन्त-स्वरूप भगवान् की एक-एक अभिव्यक्ति है। परम करुणा के वश हो वेदान्त, मुमुक्ष नर-नारियों को वे सब विभिन्न मार्ग दिखा देता है, जो अतीत और वर्तमान में तेजस्वी ईश्वर-पुत्रों या ईश्वरावतारों द्वारा मानव-जीवन की कठोर चट्टानों से काटे गए हैं; और वह हाथ बढ़ाकर सबका, यहाँ तक कि भविष्य में होने वाले लोगों का भी, उस सत्य और आनन्द के धाम में स्वागत करता है, जहाँ मनुष्य की आत्मा माया जाल से मुक्त हो सम्पूर्ण स्वतन्त्रता और अनन्त आनन्द में विभोर होकर रहती है।

अतः भक्तियोग हमें इस बात का आदेश देता है कि हम

भगवान् की प्राप्ति के विभिन्न मार्गों में से किसी के भी प्रति घृणा न करें, किसी को भी अस्वीकार न करें। फिर भी, जब तक पौधा छोटा रहे, तब तक उसे चारों ओर से रूँध रखना आवश्यक है। आध्यात्मिकता का यह छोटा पौधा यदि आरम्भिक कच्ची दशा में ही विचारों और आदर्शों के सतत परिवर्त्तन के लिए खुला रहे, तो वह मर जाएगा। बहुत से लोग 'धार्मिक-उदारता' के नाम पर अपने आदर्शों को लगातार बदलते रहते हैं और इस प्रकार अपनी व्यर्थ की उत्सुकता तृप्त करते रहते हैं। सदा नई बातें सुनने के लिए लालायित रहना उनके लिए एक बीमारी-सी, एक नशा-सा हो जाता है। क्षणिक स्नायविक उत्तेजना के लिए ही वे नई-नई बातें सुनना चाहते हैं, और जब इस प्रकार की उत्तेजना देने वाली एक बात का असर उनके मन से चला जाता है, तब वे दूसरी बात सुनने को तैयार हो जाते हैं। उनके लिए धर्म एक प्रकार से अफीम के समान है और बस उसका वहीं अन्त हो जाता है। परमहंस श्रीकृष्ण कहते थे, "एक दूसरे भी प्रकार के मनुष्य हैं, जिनकी उपमा समुद्र की सीपी से दी जा सकती है। सीपी समुद्र की तह छोड़कर स्वाति नक्षत्र में पानी की एक बूँद लेने के लिए ऊपर उठ आती है और मुँह खोले हुए सतह पर तैरती रहती है। ज्योंही उसमें उस नक्षत्र का एक बूँद पानी पड़ता है, त्योंही वह मुँह बन्द करके एक दम समुद्र की तह में चली जाती है और फिर ऊपर नहीं आती। इसी तरह, यह दूसरे प्रकार का तत्व जिज्ञासु, विश्वासी साधक गुरु-मंत्ररूप जलबिन्दु पाकर साधना के अथाह समुद्र में डूब जाता है और तनिक भी इधर-उधर देखता तक नहीं।"

इष्टनिष्ठा का भाव प्रकट करने के लिए यह एक अत्यन्त हृदयस्पर्शी और आलंकारिक उदाहरण है, और इतनी सुन्दर

उपमा शायद ही पहले कभी दी गई हो। साधक के लिए आरम्भिक दशा में यह एकनिष्ठा नितान्त आवश्यक है। हनुमान जी के समान उसे भी यह भाव रखना चाहिए, "यद्यपि परमात्मदृष्टि से लक्ष्मीपति और सीतापति दोनों एक हैं, तथापि मेरे सर्वस्व तो वे ही कमलालोचन श्रीराम हैं।"[१] अथवा हिन्दी के एक सन्त कवि ने जैसा कहा है, "सबके साथ बैठो, सबके साथ मिष्ट भाषण करो, सबका नाम लो और सबसे हाँ-हाँ कहते रहो, पर अपना स्थान मत छोड़ो—अर्थात् अपना भाव दृढ़ रखो."[२] उसे भी ऐसा ही करना चाहिए। तब यदि साधक सच्चे, निष्कूल भाव से साधना करे, तो गुरु के दिए हुए इस बीज-मन्त्र के प्रभाव से ही पराभक्ति और परम ज्ञानरूप विराट वटवृक्ष उत्पन्न होकर, सब दिशाओं में अपनी शाखाएँ और जड़ें फैलाता हुआ धर्म के सम्पूर्ण क्षेत्र को ढक लेगा। तभी सच्चे भक्त को यह अनुभव होगा कि उसका अपना ही इष्टदेवता विभिन्न सम्प्रदायों में विभिन्न नामों और विभिन्न रूपों से पूजित हो रहा है।

---

१ श्रीनाथे जानकीनाथे अभेदः परमात्मनि।
तथापि मम सर्वस्वं रामः कमललोचनः।।

२ सबसे बसिये सबसे रसिये, सबका लीजिये नाम।
हाँ जी हाँ जी करते रहिये, बैठिये अपने ठाम।।

१०—भक्ति के साधन

भक्ति-लाभ के उपायों तथा साधनों के सम्बन्ध में श्री रामानुजाचार्य वेदान्त-सूत्रों की टीका करते हुए कहते हैं, "भक्ति की प्राप्ति विवेक, विमोह, अभ्यास क्रिया, कल्याण अनवसाद और अनुद्धर्ष से होती है।" उनके मतानुसार 'विवेक का अर्थ यह है कि अन्य बातों के साथ ही हमें खाद्याखाद्य का भी विचार करना चाहिए। उनके मत से, खाद्य वस्तु के अशुद्ध होने के तीन कारण होते हैं :—(१) जातिदोष अर्थात् खाद्य वस्तु का प्रकृतिगत दोष, जैसे लहसुन, प्याज आदि; (२) आश्रयदोष अर्थात् दुष्ट और पापी व्यक्तियों के पास से आने में दोष और (३) निमित्तदोष अर्थात् किसी अपवित्र वस्तु, जैसे धूल, केश आदि के संस्पर्श से होने वाला दोष। श्रुति कहती है, "आहार शुद्ध होने से चित्त शुद्ध होता है और चित्त शुद्ध होने से भगवान का निरन्तर स्मरण होता है।"[१] यह वाक्य रामानुज ने छान्दोग्य उपनिषद् से उद्धृत किया।

भक्ती के लिए खाद्याखाद्य का यह प्रश्न सदा ही बड़ा महत्त्वपूर्ण रहा है। यद्यपि अनेक भक्त-सम्प्रदाय के लोगों ने इस विषय में काफ़ी तिल का ताड़ भी किया है, पर तो भी इसमें एक बहुत बड़ा सत्य है। हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि सांख्यदर्शन के अनुसार सत्त्व, रज और तम—जिनकी साम्यता-

---

१. आहारशुद्धौ सत्वशुद्धिः सत्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः।

—छान्दोग्य उपनिषद, ७।२६

वस्था प्रकृति है और जिनकी वैषम्यावस्था से यह जगत् उत्पन्न होता है—प्रकृति के गुण और उपादान दोनों हैं। अतएव इन्हीं उपादानों के समस्त मानव-देह बनी है। इनमें से सत्त्व पदार्थ की प्रधानता ही आध्यात्मिक उन्नति के लिए सबसे आवश्यक है। हम भोजन के द्वारा अपने शरीर में जिन उपादानों को लेते हैं, वे हमारे मानसिक गठन पर विशेष प्रभाव डालते हैं। इस लिए हमें खाद्याखाद्य के विषय में विशेष सावधान रहना चाहिए। यह कह लेना आवश्यक है कि अन्य विषयों के सदृश्य इस सम्बन्ध में भी जो कट्टरता शिष्यों द्वारा उपस्थित कर दी जाती है, इसका उत्तरदायित्व आचार्यों पर नहीं है।

वास्तव में खाद्य के सम्बन्ध में यह शुद्धाशुद्ध विचार गौण है। श्री शंकराचार्य अपने उपनिषद्-भाष्य में इसी बात का दूसरे प्रकार से विवेचन करते हैं। उन्होंने 'आहार' शब्द की, जिसका अर्थ हम बहुधा भोजन लगाते हैं, एक दूसरे ही प्रकार से व्याख्या की है। उनके मतानुसार "जो कुछ आहृत हो, वही आहार है। शब्दादि विशेषों का ज्ञान भोक्ता अर्थात् आत्मा के उपभोग के लिए भीतर आहृत होता है। इस विषयानुभूतिरूप ज्ञान की शुद्धि को आहार-शुद्धि कहते हैं। इसीलिए आहार-शुद्धि का अर्थ है—आसक्ति, द्वेष और मोह से रहित होकर विषय का ज्ञान प्राप्त करना। अतएव यह ज्ञान या 'आहार' शुद्ध हो जाने से उस व्यक्ति का सत्त्व पदार्थ अर्थात् अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, और सत्त्वशुद्धि हो जाने से अनन्त पुरुष के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान और निरन्तर स्मृति प्राप्त हो जाती है।"[1]

१—आह्रियत इत्याहारः। शब्दादिविषयविज्ञानं भोक्तेर्भोगायाहिते तस्य विषयोपलब्धिलक्षणस्य विज्ञानस्य शुद्धिराहारशुद्धिः। रागद्वेषमोह-दोषैरसंसृष्टंविषयविज्ञानमित्यर्थः। तस्यामाहारशुद्धौ सत्यां तद्वतोऽन्तः

ये दो व्याख्याएँ ऊपर से विरोधी अवश्य प्रतीत होती हैं, परन्तु फिर भी दोनों सत्य और आवश्यक हैं। सूक्ष्म शरीर अथवा मन का संयम करना स्थूल शरीर के संयम से निश्चय ही श्रेष्ठ है, परन्तु साथ-ही-साथ सूक्ष्म के संयम के लिए स्थूल का भी संयम परमावश्यक है। इसलिए आरम्भिक दशा में साधक को आहार सम्बन्धी उन सब नियमों का विशेष रूप से पालन करना चाहिए, जो उसकी गुरु-परम्परा से चले आ रहे हैं। परन्तु आजकल हमारे अनेक सम्प्रदायों में इस आहारादि विचार की इतनी बढ़ा-चढ़ी है, अर्थहीन नियमों की इतनी पाबन्दी है कि उन सम्प्रदायों ने मानो धर्म को रसोईघर में ही सीमित कर रखा है। उस धर्म के महान् सत्य वहाँ से बाहर निकाल कर कभी आध्यात्मिकता के भानु-प्रकाश में जगमगा सकेंगे, इसकी कोई सम्भावना नहीं। इस प्रकार का धर्म एक विशेष प्रकार का कोरा जड़वाद मात्र है। वह न तो ज्ञान है, न भक्ति और न कर्म, वह एक विशेष प्रकार का पागलपन-सा है। जो लोग खाद्याखाद्य के इस विचार को ही जीवन का इति कर्त्तव्य समझे बैठे हैं, उनकी गति ब्रह्मलोक में न होकर पागलखाने में होना ही सम्भव है। अतएव यह युक्तियुक्त प्रतीत होता है कि खाद्याखाद्य का विचार मन की स्थिरतारूप उच्चावस्था लाने में विशेष रूप से आवश्यक है। अन्य किसी भी प्रकार यह स्थिरता इतने सहज ढंग से नहीं प्राप्त हो सकती।

उसके बाद है 'विमोक' अर्थात् इन्द्रिय संयम—इन्द्रियों को विषयों की ओर जाने से रोकना और उनको वश में लाकर

करणस्य सत्त्वस्य शुद्धिर्नैर्मल्यं भवति, सत्वशुद्धौ च सत्यां यथावगते भ्रमात्मनि ध्रुवाविच्छिन्ना स्मृतिरविस्मरणं भवति।
—छान्दोग्य उपनिषद्, शंकर भाष्य, ७।२६।२

अपनी इच्छा के आधीन रखना। इसे धार्मिक साधना की नींव ही कह सकते हैं।

फिर आता है 'अभ्यास'' अर्थात् आत्मसंयम और आत्म-त्याग का अभ्यास। हम लोग आत्मा में परमात्मा का कितने अद्भुत ढंग से अनुभव और कितने गम्भीर भाव से सम्भोग कर सकते हैं, इसकी भी क्या कोई सीमा है? पर साधक के प्राण-पण से प्रयत्न और प्रबल संयम के अभ्यास बिना यह किसी भी तरह कार्य में परिणत नहीं किया जा सकता। "मन में सदा प्रभु का ही चिन्तन चलता रहे।" पहले-पहल यह बात बहुत कठिन मालूम होती है। पर अध्यवसाय के साथ लगे रहने पर इस प्रकार के चिन्तन की शक्ति धीरे-धीरे बढ़ती जाती है। भगवान श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं—"हे कौन्तेय, अभ्यास और वैराग्य से यह प्राप्त होता है।"[1]

उसके बाद है 'क्रिया' अर्थात् यज्ञ। पंच महायज्ञों का नियमित रूप से अनुष्ठान करना होगा।

'कल्याण' अर्थात् पवित्रता ही एक मात्र ऐसी नींव है, जिस पर सारा भक्ति का भवन खड़ा है। बाह्य शौच और खाद्या-खाद्य विचार ये दोनों सरल हैं, पर अन्तःशुद्धि बिना उनका कोई मूल्य नहीं। श्रीरामानुज ने अन्तःशुद्धि के लिए निम्न-लिखित गुणों को उपाय स्वरूप बतलाया है:—(१) सत्य, (२) आर्जव अर्थात् सरलता, (३) दया अर्थात् निःस्वार्थ परोपकार, (४) दान, (५) अहिंसा अर्थात् मन, वचन और कर्म से किसी की हिंसा न करना, (६) अनभिध्या अर्थात् परद्रव्यलोभ, वृथा चिन्तन और दूसरे द्वारा किए गए अनिष्ट आचरण के चिन्तन का त्याग। इन गुणों में से अहिंसा का भाव हमारे लिए अत्यन्त आवश्यक है। इसका अर्थ यह नहीं कि हम केवल मनुष्यों के

१. अभ्यासेन तु कौन्तेय, वैराग्येण च गृह्यते। —गीता ६।३५

प्रति दया का भाव रखें और छोटे जानवरों को निर्दयता से मारते रहें, और न यही—जैसा कुछ लोग समझते हैं—कि हम कुत्ते और बिल्लियों की तो रक्षा करते रहें, चींटियों को शक्कर खिलाते रहें, पर इधर, जैसा बने वैसा, अपने मानव-बन्धुओं का गला काटने के लिए बिना किसी झिझक के तैयार रहें। यह एक विशेष ध्यान देने योग्य बात है कि संसार में जितने सुन्दर भाव हैं, यदि देश, काल और पात्र का विचार न करते हुए, आँखें बन्द कर उनका अनुष्ठान किया जाय, तो वे स्पष्ट रूप से दोष बन जाते हैं। कुछ धार्मिक सम्प्रदायों के मैले-कुचैले साधु इस विचार से कि कहीं उनके शरीर की जुएँ आदि मर न जायँ, नहाते तक नहीं। परन्तु उन्हें इस बात का कभी ध्यान भी नहीं आता कि ऐसा करने से वे दूसरों को कितना कष्ट देते हैं और कितनी बीमारियाँ फैलाते हैं! वे और जो भी हों, पर कम-से-कम वैदिक धर्मावलम्बी तो नहीं हैं।

अहिंसा की कसौटी है—ईर्ष्या का अभाव। कोई व्यक्ति भले ही क्षणिक आवेश में आकर अथवा किसी अन्धविश्वास से प्रेरित हो या पुरोहितों के छक्के-पंजे में पड़कर कोई भला काम कर डाले, अथवा दान दे डाले, पर मानवजाति का सच्चा प्रेमी तो वह है, जो किसी के प्रति ईर्ष्या-भाव नहीं रखता। प्रायः देखा जाता है कि संसार में जो बड़े मनुष्य कहे जाते हैं, वे प्रायः एक दूसरे के प्रति केवल थोड़े से नाम, कीर्ति या चाँदी के चन्द टुकड़ों के लिए ईर्ष्या करने लगते हैं। जब तक यह ईर्ष्या-भाव मन में रहता है, तब तक अहिंसा-भाव में प्रतिष्ठित होना बहुत दूर की बात है। गाय माँस नहीं खाती, और न भेड़ ही; तो क्या वह बहुत बड़े योगी हो गए? ऐरा-गैरा कोई भी कोई विशेष चीज खाना छोड़ सकता है। पर जिस प्रकार घास-फूंस खानेवाले जानवरों को कोई विशेष उन्नत नहीं कहा जा सकता,

उसी प्रकार वह भी कोई खाद्य विशेष त्याग देने से ही ज्ञानी या उन्नत स्वभाव का नहीं हो जाता। जो मनुष्य निर्दयता के साथ विधवाओं और अनाथ बालक-बालिकाओं को ठग सकता है और जो थोड़े से धन के लिए नीच-से-नीच काम करने में भी नहीं हिचकता, वह तो पशु से भी गया-बीता है—फिर चाहे वह घास खाकर ही क्यों न रहता हो। जिसके हृदय में कभी भी किसी के प्रति बुरा विचार तक नहीं आता, जो अपने बड़े-से-बड़े शत्रु की भी उन्नति पर आनन्द मनाता है, वही वास्तव में भक्त है, वही योगी है और वही सबका गुरु है—फिर भले ही प्रतिदिन शूकर-माँस ही क्यों न खाता हो। अतएव हमें इस बात का सदैव ध्यान रखना चाहिए कि बाह्य क्रियाएँ आन्तरिक शुद्धि के लिए सहायक मात्र हैं। जब बाह्य कर्मों के साधन में छोटी-छोटी बातों का पालन करना सम्भव न हो, तो उस समय केवल अन्तःशौच का अवलम्बन करना श्रेयस्कर है। पर धिक्कार है उस व्यक्ति को, धिक्कार है उस राष्ट्र को, जो धर्म के सार को तो भूल जाता है और अभ्यासवश बाहरी क्रियाओं को ही कस-कर पकड़े रहता है तथा उन्हें किसी तरह छोड़ता नहीं! इन बाह्य क्रियाओं की उपयोगिता बस वहीं तक है, जब तक वे आध्यात्मिक जीवन की द्योतक हैं। और जब वे प्राणशून्य हो जाती हैं, जब वे आध्यात्मिक जीवन की द्योतक नहीं रह जातीं तो बिना किसी हिचकिचाहट के उनको नष्ट कर देना चाहिए।

भक्तियोग की प्राप्ति का एक और साधन है 'अनवसाद' अर्थात् बल। श्रुति कहती है, "बलहीन व्यक्ति आत्मलाभ नहीं कर सकता।"[1] इस दुर्बलता का तात्पर्य है—शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार की दुर्बलताएँ। "बलिष्ठ, द्रढ़िष्ठ" व्यक्ति

१. नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।

—मुण्डकोपनिषद् ३।२।४

ही ठीक-ठीक साधक होने के योग्य है। दुर्बल, कृश-शरीर तथा जराजीर्ण व्यक्ति क्या साधना करेगा ? शरीर और मन में जो अद्भुत शक्तियां विद्यमान हैं, किसी योगाभ्यास के द्वारा यदि वे थोड़ी सी भी जाग्रत हो गईं, तो दुर्बल व्यक्ति तो बिलकुल नष्ट हो जायेगा। "युवा, स्वस्थ शरीर सबल" व्यक्ति ही सिद्ध हो सकता है। अतएव शारीरिक बल नितांत आवश्यक है। स्वस्थ शरीर ही इन्द्रिय -संयम की प्रतिक्रिया को सह सकता है। अतः जो भक्त होने का इच्छुक है, उसे सबल और स्वस्थ होना चाहिए। अत्यन्त दुर्बल व्यक्ति यदि कोई योगाभ्यास आरम्भ कर दे, तो सम्भव है, वह किसी असाध्य व्यक्ति से ग्रस्त हो जाय, अथवा अपना मानसिक बल ही खो बैठे। जान-बूझकर शरीर को दुर्बल कर लेना आध्यात्मिक अनुभूति के लिये कोई अनुकूल व्यवस्था नहीं है।

दुर्बलचित्त व्यक्ति भी आत्मलाभ नहीं कर सकता। जो मनुष्य भक्त बनने का इच्छुक है, उसे सदैव प्रसन्नचित रहना चाहिए। पाश्चात्य देशों में धार्मिक व्यक्ति वह माना जाता है जो कभी मुस्करता नहीं, जिसके मुख पर सर्वदा विषाद की रेखा बनी रहती है और जिसकी सूरत लम्बी और जबाड़े बैठे से होते हैं। ऐसे दुर्बल-शरीर और लम्बी सूरत वाले लोग तो किसी हकीम की देख-भाल की चीजें हैं, वे योगी नहीं हैं। प्रसन्नचित व्यक्ति ही अध्यवसायशील हो सकता है। दृढ़ संकल्प वाला व्यक्ति हजारों कठिनाइयों में से भी अपना रास्ता निकाल लेता है। इस माया-जाल को काटकर अपना रास्ता बना लेना सबसे कठिन कार्य है, और यह केवल बल इच्छा शक्ति सम्पन्न पुरुष ही कर सकते हैं।

परन्तु साथ-ही-साथ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि मनुष्य कहीं अत्यधिक आमोद-प्रमोद में मत्त न हो जाय। यही 'अनुद्धर्ष

है। अत्यन्त हास्य-कौतुक हमें गम्भीर चिन्तन के अयोग्य बना देता है। उससे मानसिक शक्ति व्यर्थ ही नष्ट हो जाती है। इच्छा-शक्ति जितनी दृढ़ होगी, मनुष्य विभिन्न भावों के उतना ही कम वशीभूत होगा। अत्यधिक आमोद उतना ही बुरा है, जितना गम्भीर उदासी का भाव। जब मन सामंजस्यपूर्ण, स्थिर और शान्त रहता है, तभी सब प्रकार की आध्यात्मिक अनुभूति संभव होती है।

इन्हीं सब साधनों द्वारा क्रमशः ईश्वर-भक्ति का उदय होता है।

११–पराभक्ति भाव

अब तक हमने गौणी भक्ति के बारे में विचार किया। अब हम पराभक्ति का विवेचन करेंगे। इस पराभक्ति के अभ्यास में लगने के लिए एक विशेष साधन की बात कहनी है। सब प्रकार की साधनाओं का उद्देश्य है– आत्मशद्धि। नाम-जप, कर्म-काण्ड, प्रतीक, प्रतिमा आदि केवल आत्मशुद्धि के लिए हैं। पर शुद्धि की इन सब साधनाओं में त्याग ही सबसे श्रेष्ठ है। इसके बिना कोई भी पराभक्ति के क्षेत्र में प्रविष्ट नहीं हो सकता। त्याग की बात सुनते ही बहुत से लोग डर जाते हैं; पर इसके बिना किसी प्रकार की आध्यात्मिक उन्नति सम्भव नहीं। सभी प्रकार के योग में यह त्याग आवश्यक है। यह त्याग ही सारी आध्यात्मिकता की पहली सीढ़ी है, उसका सार है—यही वास्तविक धर्म है। जब मानवात्मा संसार की समस्त वस्तुओं को दूर फेंक, गम्भीर तत्त्वों की खोज में लग जाती है, जब वह समझ लेती है कि मैं देह-रूप जड़ में बद्ध होकर स्वयं जड़ हुई जा रही हूँ और क्रमशः विनाश की ओर ही बढ़ रही हूँ,—और ऐसा समझकर जब वह जड़ पदार्थ से अपना मुँह मोड़ लेती है, तभी त्याग का आरम्भ होता है, तभी वास्तविक आध्यात्मिकता की नींव पड़ती है। कर्मयोग सारे कर्मफलों का त्याग करता है; वह जो कुछ कर्म करता है, उसके फल में वह आसक्त नहीं होता। वह लौकिक अथवा पारलौकिक किसी प्रकार के फलोपभोग की परवाह नहीं करता। राजयोगी जानता है कि सारी प्रकृति का उद्देश्य आत्मा को भिन्न-भिन्न प्रकार के सुख-दुःखात्मक अनुभव प्राप्त कराना है, जिसके फलस्वरूप आत्मा यह जान ले कि वह प्रकृति

से नित्य पृथक् और स्वतन्त्र है। मानवात्मा को यह भली भाँति जान लेना होगा कि वह नित्य आत्म-स्वरूप है और भूतों के साथ उसका संयोग केवल सामयिक है, क्षणिक है। राजयोगी प्रकृति के अपने नानाविध सुख-दुःखों के अनुभवों से वैराग्य की शिक्षा पाता है। ज्ञानयोगी का वैराग्य सबसे कठिन है, क्योंकि आरम्भ से ही उसे यह जान लेना पड़ता है कि ठोस दिखने वाली प्रकृति निरी मिथ्या है। उसे यह समझ लेना पड़ता है कि प्रकृति में जो कुछ शक्ति का विकास दिखता है, वह बस आत्मा की ही शक्ति है, प्रकृति की नहीं। उसे आरम्भ से ही यह जान लेना पड़ता है कि सारा ज्ञान और अनुभव आत्मा में ही है, प्रकृति में नहीं; और इस लिए उसे केवल विचारजन्य धारणा के बल से एकदम प्रकृति के सारे बन्धनों को छिन्न-भिन्न कर डालना पड़ता है। प्रकृति और प्राकृतिक पदार्थों की ओर वह देखता तक नहीं, वे सब चलते दृश्यों के समान उसके सामने से लुप्त हो जाते हैं। वह स्वयं कैवल्यपद में स्थित होने का प्रयत्न करता है।

सब प्रकार के वैराग्यों में भक्तियोगी का वैराग्य सबसे स्वाभाविक है। उसमें न कोई कठोरता है, न कुछ छोड़ना पड़ता है, न हमें अपने आपसे कोई चीज छीननी पड़ती है, और न बलपूर्वक किसी चीज से हमें अपने आपको अलग ही करना पड़ता है। भक्त का त्याग तो अत्यन्त सहज और स्वाभाविक होता है। इस प्रकार का त्याग-बहुत कुछ विकृत रूप में, हम प्रतिदिन अपने चारों ओर देखते हैं। उदाहरणार्थ एक मनुष्य एक स्त्री से प्रेम करता है। कुछ समय बाद वह दूसरी स्त्री से प्रेम करने लगता है और पहली स्त्री को छोड़ देता है। वह पहली स्त्री धीरे-धीरे उसके मन से पूर्णतया चली जाती है और उस मनुष्य को उसकी याद तक नहीं आती—उस स्त्री का अभाव तक उसे अब मालूम नहीं होता। एक स्त्री एक मनुष्य से प्रेम करती है; कुछ दिनों

बाद वह दूसरे मनुष्य से प्रेम करने लगती है और पहला आदमी उसके मन से उतर जाता है। किसी व्यक्ति को अपने शहर से प्यार होता है। फिर वह अपने देश को प्यार करने लगता है और तब उसका अपने छोटे से शहर के प्रति उत्कट प्रेम धीरे-धीरे, स्वाभाविकरूप से चला जाता है। फिर जब वही मनुष्य संसार को प्यार करने लगता है, तब उसका स्वदेश-प्रेम धीरे-धीरे चला जाता है। इससे उसे कोई कष्ट नहीं होता। यह भाव दूर करने के लिए उसे किसी प्रकार की जोर-जबरदस्ती नहीं करनी पड़ती। एक अनपढ़ मनुष्य इंद्रिय सुखों में उन्मत्त रहता है। जैसे जैसे वह शिक्षित होता जाता है, वैसे वैसे ज्ञान चर्चा में उसे अधिक सुख मिलने लगता है और उसके विषय-भोग भी धीरे धीरे कम होते जाते हैं। एक कुत्ता अथवा भेड़िया जितनी प्रीति से अपना भोजन करता है, उतना आनन्द किसी मनुष्य को अपने भोजन में नहीं आता। परन्तु जो आनंद मनुष्य को बुद्धि और बौद्धिक कार्यों से प्राप्त होता है, उसका अनुभव एक कुता कभी नहीं कर सकता। पहले-पहल इद्रियों से सुख होता है; परन्तु ज्यों-ज्यों प्राणी ऊँची अवस्थाओं को प्राप्त होता जाता है, त्यों-त्यों इंद्रियजन्य सुखों में उसकी आसक्ति कम होती जाती है। मानव-समाज में भी देखा जाता है कि मनुष्य की प्रवृत्ति जितनी पशुवत् होती हैं, वह उतनी ही तीव्रता से इन्द्रियों में सुख का अनुभव करता है। पर वह जितना ही शिक्षित और उच्च अवस्था को प्राप्त होता जाता है, उतना ही उसे बुद्धि सम्बन्धी तथा इसी प्रकार की अन्य सूक्ष्मतर बातों में आनन्द मिलने लगता है। इसी तरह, जब मनुष्य बुद्धि और मनोवृत्ति के भी परे हो जाता है और आध्यात्मिकता तथा ईश्वरानुभूति के क्षेत्र में विचरता है, तो उसे वहाँ ऐसा अपूर्व आनन्द प्राप्त होता है कि उसके मुकाबले में सारा इन्द्रियजन्य सुख, यहाँ तक कि बुद्धि से मिलने-

वाला सुख भी बिलकुल मामूली प्रतीत होता है। जब चन्द्रमा चारों ओर अपनी किरणें बिखेरता है, तो तारे धुँधले पड़ जाते हैं, परन्तु सूर्य के प्रकट होने से चन्द्रमा स्वयं ही निष्प्रभ हो जाता है। भक्ति के लिए जिस वैराग्य की आवश्यकता होती है, उसको प्राप्त करने के लिए किसी का नाश करने की आवश्यकता नहीं होती। वह वैराग्य तो स्वभावतः ही आ जाता है। जैसे बढ़ते हुए तेज़ प्रकाश के सामने मन्द प्रकाश धीरे-धीरे स्वयं ही धुँधला होता जाता है और अन्त में बिलकुल विलीन हो जाता है, उसी प्रकार इंद्रियों से मिलने वाले तथा बुद्धि से मिलने वाले सुख ईश्वरप्रेम के सामने आप-ही-आप धीरे-धीरे धुँधले होकर अंत में निष्प्रभ हो जाते हैं। यही ईश्वर-प्रेम क्रमशः बढ़ते हुए एक ऐसा रूप धारण कर लेता है, जिसे पराभक्ति कहते हैं। तब तो इस प्रेमिक पुरुष के लिए अनुष्ठान की और आवश्यकता नहीं रह जाती, शास्त्रों का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता; प्रतिमा, मंदिर गिरजे, विभिन्न धर्म-सम्प्रदाय, देश, राष्ट्र—ये सब छोटे-छोटे सीमित भाव और बंधन अपने आप ही चले जाते हैं। तब संसार में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं बच रहती, जो इसको बाँध सके, जो उसकी स्वतंत्रता को नष्ट कर सके। जिस प्रकार किसी चुम्बक की चट्टान के पास एक जहाज के आ जाने से, उस जहाज की सारी कीलें तथा लोहे की छड़ें खिचकर निकल जाती हैं और जहाज के तख्ते आदि खुलकर पानी पर तैरने लगते हैं, उसी प्रकार प्रभु की कृपा से आत्मा के सारे बंधन दूर हो जाते है और वह मुक्त हो जाती है। इसलिए भक्ति लाभ उपायस्वरूप इस वैराग्य-साधन में न तो किसी प्रकार की कठोरता है, न शुष्कता और न किसी प्रकार की जोर-जबरदस्ती ही। भक्त को अपने किसी भी भाव का दमन करना नहीं पड़ता, प्रत्युत वह तो सब भावों को प्रबल करके भगवान की ओर लगा देता है।

१२–भक्त का वैराग्य––प्रेमजन्य

हम प्रकृति में सर्वत्र प्रेम का विकास देखते हैं। मानव-समाज में जो कुछ सुन्दर और महान् है, वह सब प्रेम-प्रसूत है; फिर जो कुछ खराब, यही नहीं, बल्कि पैशाचिक है, वह भी उसी प्रेम-भाव का विकृत रूप है। पति-पत्नी का विशुद्ध दाम्पत्य-प्रेम और अति नीच कामवृत्ति दोनों उस प्रेम के ही दो रूप हैं। भाव एक ही है, पर भिन्न-भिन्न अवस्था में उनके भिन्न-भिन्न रूप होते हैं। यह एक ही प्रेम, एक ओर तो मनुष्य को भलाई करने और अपना सब कुछ गरीबों को बाँट देने के लिए प्रेरित करता है, फिर दूसरी ओर वही एक दूसरे मनुष्य को अपने बन्धु-बान्धवों का गला काटने और उनका सब कुछ छीन लेने की प्रेरणा देता है। यह दूसरा व्यक्ति जिस प्रकार अपने आपसे प्यार करता है, पहला व्यक्ति उसी प्रकार दूसरों से प्यार करता है। पहली दशा में प्रेम की गति ठीक और उचित दिशा में है, पर दूसरी दशा में वही बुरी दशा में। जो आग हमारे लिए भोजन पकाती है, वह एक बच्चे को जला भी सकती है। किन्तु इसमें आग का कोई दोष नहीं। अतएव यह प्रेम, यह प्रबल मिलन-स्पृहा, दो व्यक्तियों के एक प्राण हो जाने की यह तीव्र आकाँक्षा, और सम्भवतः अन्त में सब की उस एक स्वरूप में विलीन हो जाने की इच्छा, उत्तम या अधम रूप से सर्वत्र विद्यमान् है।

भक्तियोग उच्चतर प्रेम का विज्ञान है। वह हमें दर्शाता है कि हम प्रेम को ठीक रास्ते से कैसे लगाएँ, कैसे उसे वश में लायें,

उसका सद्व्यवहार किस प्रकार करें, किस प्रकार एक नये मार्ग में उसे मोड़ दें। और उससे श्रेष्ठ और महत्तम फल अर्थात् जीव-मुक्त अवस्था किस प्रकार प्राप्त करें। भक्तियोग कुछ छोड़ने, छाड़ने की शिक्षा नहीं देता; वह केवल वहता है, "परमेश्र में आसक्त होओ।" और जो परमेश्वर के प्रेम में उन्मत्त हो गया है, उसकी, स्वाभावतः नीच विषयों में कोई प्रवृति नहीं रह सकती।

"प्रभो, मैं तुम्हारे बारे में और कुछ नहीं जानता, केवल इतना जानता हूँ कि तुम मेरे हो। तुम सुन्दर हो! अहा, तुम अत्यन्त सुन्दर हो! तुम स्वयं सौन्दर्यस्वरूप हो!" हम सभी में सौन्दर्य-पिपासा विद्यमान है। भक्त केवल इतना कहता है कि इस सौंदर्य-पिपासा की गति भगवान की ओर फेर दो। मानव-मुखड़े, आकाश तारों वा चन्द्रमा में जो सौंदर्य दिखाता है, वह आया कहाँ से? वह भगवान के उस सर्वतोमुखी प्रकृति सौंदर्य का ही आँशिक प्रकाश मात्र है। "उसी के प्रकाश से सब प्रकाशित होते हैं।"[१] उसी का तेज सब वस्तुओं में है। भक्ति की इस उच्च अवस्था को प्राप्त करो। उससे तुम एकदम अपने तुच्छ अहंभाव को भूल जाओगे। छोटे-छोटे साँसारिक स्वार्थों का त्याग कर दोगे। यह न समझ लेना कि मानवता ही तुम्हारे समस्त मानवी और उससे उच्चतर ध्येयों का भी केन्द्र है। तुम केवल एक साक्षी की तरह, खड़े रहो और प्रकृति की विचित्रता देखते जाओ। मनुष्य के प्रति राग-रहित होओ और देखो, यह प्रेम-प्रवाह जगत् में किस प्रकार कार्य कर रहा है! हो सकता है, कभी-कभी एक-आध धक्का भी लगे, परन्तु वह परमप्रेम की प्राप्ति के मार्ग में होने वाली एक

१—तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।

—कठोपनिषद्, २।२।१५

घटना मात्र है। सम्भव है, वहीं थोड़ा युद्ध छिड़े, अथवा कोई थोड़ा फिसल जाय, पर ये सब उस परमप्रेम में चढ़ने की सीढ़ियाँ मात्र हैं। चाहे जितने युद्ध छिड़ें, चाहे जितने संघर्ष आएँ, पर तुम साक्षी होकर बस एक ओर खड़े रहो। ये युद्ध तुम्हें तभी खटकेंगे जब तुम संसार चक्र में पड़े होगे! परन्तु जब तुम उसके बाहर निकल आओगे और केवल एक दर्शक के रूप में खड़े रहोगे,तो देखोगे कि प्रेमस्वरूप भगवान अपने आपको अनन्त रूपों में प्रकाशित कर रहे हैं।

"जहाँ कहीं थोड़ा सा भी आनन्द है, चाहे वह घोर विषयभोग का ही क्यों न हो, वहाँ उस अनन्त आनन्दस्वरूप भगवान का ही अंश है।" नीच-से-नीच आसक्ति में भी ईश्वरी प्रेम का बीज निहित है। संस्कृत भाषा में प्रभु का एक नाम 'हरि' है। उसका अर्थ यह है कि वे ही सबको अपनी ओर खींच रहे हैं। असल में वे ही हमारे प्रेम के एकमात्र उपयुक्त पात्र हैं। यह जो हम लोग अनेक दिशाओं में खिच रहे हैं, तो हम लोगों को खींच कौन रहा है? वे ही!—वे ही हमें अपनी गोद में लगातार खींच रहे हैं। निर्जीव जड़ क्या कभी चेतन आत्मा को खींच सकता है? नहीं—कभी नहीं। मान लो, एक सुन्दर चेहरा देखकर कोई पागल हो गया। तो क्या कुछ जड़ परमाणुओं के समूह ने उसे पागल कर दिया है? नहीं, कभी नहीं। इन जड़ परमाणुओं के पीछे अवश्य ईश्वरी शक्ति और ईश्वरी प्रेम का खेल चल रहा है। मूर्ख मनुष्य यह नहीं जानता। परन्तु फिर भी, जाने या अनजाने, वह उसी के द्वारा खिच रहा है। इसलिए नीच-से-नीच आसक्ति भी अपनी खींचने की शक्ति स्वयं भगवान से ही पाती है। "हे प्रिये, कोई स्त्री अपने पति को पति के लिए प्यार नहीं करती; पति के अंतरस्थ आत्मा के लिए ही पत्नी उसे प्यार करती है।"[1] प्रेमिका

पत्नियाँ चाहे यह जानती हों अथवा नहीं, पर है यह सत्य। "हे प्रिये, पत्नी के लिए पत्नी को कोई प्यार नहीं करता, परन्तु पत्नी के अंतस्थ आत्मा के लिए ही पति उसे प्यार करता है।"[२] "इसी प्रकार, संसार में जब कोई अपने बच्चे अथवा अन्य किसी से प्रेम करता है, तो वह वास्तव में उसके अन्तरस्थ आत्मा के लिए ही उससे प्रेम करता है। भगवान मानो एक बड़े चुम्बक हैं और हम सब लोहे की रेत के समान हैं। हम लोग उनके द्वारा निरंतर खींचे जा रहे हैं। हम सभी उन्हें प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहे हैं। संसार में हम जो अनेक प्रकार के प्रयत्न करते हैं, वे सब केवल स्वार्थ के लिए नहीं हो सकते। अज्ञानी लोग जानते नहीं कि उनके जीवन का उद्देश्य क्या है? वास्तव में वे लगातार परमात्मारूप उस बड़े चुम्बक की ओर ही बढ़ रहे हैं। हमारे इस अविराम, कठोर जीवन-संग्राम का लक्ष्य है—अन्त में उनके निकट पहुँचकर उनके साथ एकाकार हो जाना।

भक्तियोगी इस जीवन-संग्राम का अर्थ भली भाँति जानता है। यह ऐसे संग्रामों की एक लम्बी परम्परा में से पार हो चुका है और वह जानता है कि उनका लक्ष्य क्या है। उनके होने वाले द्वन्द्वों से छुटकारा पाने की उसकी तीव्र चाह रहती है। वह संघर्षों से दूर ही रहना चाहता है और सीधे समस्त आकर्षणों के मूल-कारणस्वरूप 'हरि' के निकट चला जाना चाहता है। यही भक्त का त्याग है। भगवान के प्रति इस शक्तिशाली आकर्षण से उसके अन्य सब आकर्षण नष्ट हो जाते हैं। उसके हृदय में इस अनंत

१—न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति। वृहदारण्यक उपनिषद, २।४

२—न वा अरे जाययै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति।—वृहदारण्यक उपनिषद, २।४

ईश्वर-प्रेम के प्रवेश कर जाने से फिर वहाँ अन्य किसी प्रेम को तिल मात्र भी गुँजाइश नहीं रह जाती। और रहे भी कैसे ? भक्ति तो उसके हृदय को ईश्वर-रूपी प्रेम-सागर के दैवी जल से भर देती है और इस प्रकार उसमें फिर तुच्छ प्रेमों के लिए स्थान ही नहीं रह जाता। अभिप्राय यह कि भक्त का वैराग्य अर्थात् भगवान को छोड़ सब बिषयों में विरक्ति भगवान के प्रति परम प्रेम से उत्पन्न होती है।

पराभक्ति की प्राप्ति के लिए यही सर्वोच्च साधन है—यही आदर्श तैयारी है। जब यह वैराग्य आता है, तो पराभक्ति के राज्य का प्रवेश-द्वार खुल जाता है जिससे आत्मा पराभक्ति के गम्भीरतम प्रदेशों में पहुँच सके। तभी हम यह समझने लगते हैं कि पराभक्ति क्या है ? और जिसने पराभक्ति के राज्य में प्रवेश किया है, उसी को यह कहने का अधिकार है कि प्रतिमा-पूजन अथवा ब्राह्य अनुष्ठान आदि अब और अधिक आवश्यक नहीं हैं। उसी ने उस परम अवस्था की प्राप्ति कर ली है, जिसे हम साधारणतया विश्वबंधुत्व कहते हैं; दूसरे लोग तो विश्वबंधुत्व की कोरी बातें ही करते हैं। उसमें फिर भेदभाव नहीं रह जाता ! वह अथाह प्रेमसिंधु में डूब जाता है। तब उसे मनुष्य में मनुष्य नहीं दिखता, वरन सर्वत्र उसे अपना प्रभु ही दिखाई देता है। प्रत्येक मुख में उसे 'हरि' ही दिखाई देते हैं। सूर्य अथवा चन्द्र का प्रकाश उन्हीं की अभिव्यक्ति है। जहाँ कहीं सौंदर्य और महानता दिखाई देती है, उसकी दृष्टि में वह सब भगवान की ही है। ऐसे भक्त आज भी इस संसार में विद्यमान हैं। संसार इससे कभी खाली नहीं होता। ऐसे भक्तों को यदि सांप भी काट ले, तो वे कहते हैं, "मेरे प्रभु का एक दूत आया था।" ऐसे ही पुरुषों को विश्वबन्धुत्व की बातें करने का अधिकार है। उनके हृदय में क्रोध, घृणा अथवा ईर्ष्या कभी प्रवेश नहीं कर पाती। सारा बाह्य, इन्द्रिय-ग्राह्य जगत् के लिए सदा के लिए लुप्त हो जाता है। वे तो अपने प्रेम के बल से इंद्रियों से परे के सत्य को सारे समय देखते रहते हैं। तो फिर उनमें क्रोध भला आए कैसे ?

१३—भक्ति की स्वाभाविकता और उसका रहस्य

भगवान श्रीकृष्ण से अर्जुन पूछते हैं—"हे प्रभो, जो सतत युक्त हो तुम्हें भजता है, और जो अव्यक्त, निर्गुण का उपासक है, इन दोनों में कौन श्रेष्ठ है ?"[1] श्री भगवान कहते हैं—"हे

१—अर्जुन उवाच—एवं सतत युक्ता भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चात्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ।।
श्रीभगवानुवाच—मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ।।
ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपास्ते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ।।
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ।।
क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ।।
ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपास्ते ।।
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ।।
—गीता, १२—१—७

अर्जुन, मुझमें मन को एकाग्र करके जो नित्ययुक्त हो परम श्रद्धा के साथ मेरी उपासना करता है, वही मेरा श्रेष्ठ उपासक है, वही श्रेष्ठ योगी है। और जो इंद्रिय-समुदाय को पूर्ण वश में करके मन बुद्धि से पूरे, सर्वव्यापी, अव्यक्त और सदा एकरस रहने वाले नित्य, अचल, निराकार, अविनाशी, सच्चिादानन्दघन ब्रह्म को, निरन्तर एकीभाव से ध्यान करते हुए उपासना करते हैं, वे समस्त भूतों के हित में रत हुए और सबसे समान भाव रखने वाले योगी भी मुझे ही प्राप्त होते हैं। किन्तु उन सच्चिदानन्दघन निराकर में आसक्त-चित्तवाले पुरुषों के लिए (साधन में) क्लेश अर्थात् जब परिश्रम अधिक है, क्योंकि देहाभिमानी व्यक्तियों द्वारा यह अव्यक्त गति बहुत दुःखपूर्वक प्राप्त की जाती है, अर्थात् जब तक शरीर में अभिमान रहता है, तब तक शुद्ध सच्चिदानन्दघन निराकार ब्रह्म में स्थित होना कठिन है। और जो मेरे परायण हुए भक्तजन सम्पूर्ण कर्मों को मुझमें अर्पण कर, मुझे अनन्य ध्यान और योग से निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं, हे अर्जुन मुझमें चित्त लगाने वाले उन प्रेमी भक्तों का मैं शीघ्र ही मृत्यु-रूपी संसार-समुद्र से उद्धार करने वाला होता हूँ।" उपर्युक्त कथन में ज्ञानयोग और भक्तियोग दोनों का दिव्यदर्शन कराया गया है। कह सकते हैं कि उसमें दोनों की व्याख्या कर दी गई है। ज्ञानयोग अवश्य अति श्रेष्ठ मार्ग है। तत्त्वविचार उसका प्राण है। और आश्चर्य की बात तो यह है कि सभी सोचते हैं कि वे ज्ञान योग के आदर्शानुसार चलने में समर्थ हैं। परन्तु वास्तव में ज्ञानयोग-साधना बड़ी कठिन है। उसमें गिर पड़ने का बड़ा खतरा रहता है।

संसार में हम दो प्रकार के मनुष्य देखते हैं। एक जो आसुरी प्रकृति वाले, जिनकी दृष्टि में शरीर का पालन-पोषण ही सब

कुछ है, और दूसरे दैवी प्रकृति वाले, जिनकी यह धारणा रहती है कि शरीर किसी एक विशेष उद्देश्य की पूर्ति का—आत्मोन्नति का एक साधन मात्र है। शैतान भी अपनी कार्यसिद्धि के लिए शास्त्रों के वाक्य उधृत कर सकता है और करता भी है। और इस तरह ऐसा ज्ञात होता है कि ज्ञान-मार्ग जिस प्रकार साधु व्यक्तियों के सत्कार्य का प्रबल प्रेरक है, उसी प्रकार असाधु व्यक्तियों के भी कार्य का समर्थक है। ज्ञानयोग में यही एक बड़े खतरे की बात है। परन्तु भक्तियोग बिलकुल स्वाभाविक और मधुर है। भक्त उतनी ऊँची उड़ान नहीं उड़ता, जितना कि एक ज्ञानयोगी, और इसीलिए उनके बड़े खड्डों में गिरने की आशंका भी नहीं रहती। पर हाँ, इतना समझ लेना होगा कि साधक किसी भी पथ पर क्यों न चले, जब तक आत्मा के सारे बन्धन छूट नहीं जाते, तब तक वह मुक्त नहीं हो सकता।

नीचे लिखे श्लोक से यह स्पष्ट होता है कि किस प्रकार एक भाग्यशालिनी गोपी पाप और पुण्य के बन्धनों से मुक्त हो गई थी। "भगवान के ध्यान से उत्पन्न तीव्र आनन्द ने उसके समस्त पुण्यकर्मजनित बन्धनों को काट दिया। फिर भगवान की प्राप्ति न होने की परम आकुलता से उसके समस्त पाप धुल गए और वह मुक्त हो गई।"[1] अतएव भक्तियोग का रहस्य यह है कि मनुष्य के हृदय में जितने प्रकार की वासनाएँ और भाव हैं, उसमें से कोई भी स्वरूपत: खराब नहीं है; उन्हें धीरे-धीरे अपने वश

---

१ तच्चिन्ताविपुलाल्हादक्षीणपुण्यचया तथा !
तदप्राप्तिमहद्दु:खविलीनाशेषपातका ॥
चिन्तयन्ती जगत्पतिं परब्रह्मस्वरूपिणम्।
निरुच्छ्वासतया मुक्तिं गतान्या गोपकन्यका ॥
—विष्णुपुराण, ५।१३।२१—२२

में लाकर उनकी गति क्रमशः उच्च से उच्चतर दिशा में फेरनी होगी। और यह कब तक करना होगा? जब तक कि वे परमोच्च दशा को प्राप्त न हो जाँय। उनकी सर्वोच्च-गति है भगवान, और उनकी शेष सब गतियाँ निम्नाभिमुखी हैं। हम देखते हैं कि हमारे जीवन में सुख और दुख लगे ही रहते हैं। जब कोई मनुष्य धन अथवा अन्य किसी सांसारिक वस्तु के अभाव से दुख अनुभव करता है, तो वह अपनी भावनाओं को गलत मार्ग पर ले जा रहा है। फिर भी, दुख की भी उपयोगिता है। यदि मनुष्य इस बात के लिए दुःख करने लगे कि अब तक उसे परमात्मा की प्राप्ति नहीं हुई, तो वह दुःख उसकी मुक्ति का कारण बन जाएगा। जब कभी तुम्हें इस बात का आनन्द होता है कि तुम्हारे पास चाँदी के टुकड़े हैं, तो समझना कि तुम्हारी आनन्द-वृत्ति गलत रास्ते पर जा रही है। उसे उच्चतर दशा की ओर ले जाना होगा, हमें अपने सर्वोच्च लक्ष्य भगवान के चिन्तन में आनन्द अनुभव करना होगा। हमारी अन्य सब भावनाओं के सम्बन्ध में भी ठीक ऐसी ही बात है। भक्त की दृष्टि में उनमें से कोई भी खराब नहीं है; वह उन सबको लेकर केवल भगवान की ओर फेर देता है।

१४—भक्ति की अवस्थाएँ

भक्ति विभिन्न रूपों में प्रकाशित होती है।[1] पहला है—"श्रद्धा' लोग मन्दिरों और पवित्र स्थानों के प्रति श्रद्धा क्यों प्रकट करते हैं ? इसलिए कि वहाँ भगवान की पूजा होती है, ऐसे स्थानों में उनकी सत्ता अधिक अनुभूत होती है। प्रत्येक देश में लोग धर्म के आचार्यों के प्रति श्रद्धा क्यों प्रकट करते हैं ? इसलिए कि ऐसा करना बिल्कुल स्वाभाविक है, क्योंकि ये सब आचार्य उन्हीं भगवान की महिमा का उपदेश देते हैं। इस श्रद्धा का मूल है प्रेम। हम जिससे प्रेम नहीं करते, उसके प्रति कभी भी श्रद्धालु नहीं हो सकते। इसके बाद है—"प्रीति" अर्थात् ईश्वर-चिन्तन में आनंद मनुष्य इन्द्रिय-विषयों में कितना तीव्र आनन्द अनुभव करता है! इन्द्रियों को अच्छी लगने वाली चीजों के लिए कहाँ-कहाँ भटकता फिरता है और बड़े से बड़े जोखिम उठाने को तैयार रहता है। भक्त को चाहिए कि वह भगवान के प्रति इसी प्रकार का तीव्र प्रेम रखे। इसके बाद आता है "विरह' प्रेमी, के अभाव से उत्पन्न होने वाला तीव्र दुःख। यह दुःख संसार के समस्त दुःखों में सबसे मधुर है—अत्यन्त मधुर है। जब मनुष्य भगवान को न पा सकने के कारण, संसार में एकमात्र जानने योग्य वस्तु को जान सकने के कारण भीतर में तीव्र वेदना अनुभव करने लगता है और फलस्वरूप अत्यन्त व्याकुल हो बिल्कुल पागल-सा हो जाता है, तो उस दशा को विरह कहते हैं। मन की ऐसी दशा में प्रेम को

१—सम्मान-बहुमान प्रीति-विरह इतरविचिकित्सा महिमख्याति-तदर्थप्राणसंस्थान-तदीयता सर्वतद्भाव-अप्रातिकूल्यादीनि च स्मरणेभ्यो बाहुल्लात्। —शाण्डिल्यसूत्र, २।१।४४

छोड़ उसे और कुछ अच्छा नहीं लगता। प्रायः यह विरह सांसारिक प्रेम में देखा जाता है। जब स्त्री और पुरुष में यथार्थ और प्रगाढ़ प्रेम होता है तो उन्हें ऐसे किसी भी व्यक्ति की उपस्थिति अच्छी नहीं लगती, जो उनके मन का नहीं होता। ठीक इसी प्रकार जब पराभक्ति हृदय पर अपना प्रभाव जमा लेती है, तो अन्य अप्रिय विषयों की उपस्थिति हमें खटकने लगती है, यहाँ तक कि भगवान के अतिरिक्त अन्य किसी विषय पर बातचीत तक करना हमारे लिए अरुचिकर हो जाता है। "उन पर—केवल उन पर ध्यान करो और अन्य सब बातें त्याग दो।" जो लोग केवल उन्हीं की चर्चा करते हैं, वे भक्त जो मित्र के समान जान पड़ते हैं, और जो लोग दूसरे विषयों की चर्चा करते हैं, वे उसको शत्रु के समान लगते हैं। प्रेम की इससे भी उच्च अवस्था तो वह है, जब उन प्रेमस्वरूप के निमित्त ही प्राण धारण करना सुन्दर और सार्थक समझा जाता है। ऐसे प्रेमी के लिए उन परम प्रेमास्पद भगवान के बिना एक क्षण भी रहना असम्भव हो जाता है। उन प्रियतम का चिन्तन हृदय में सदैव बने रहने के कारण ही उसे जीवन इतना मधुर प्रतीत होता है। शास्त्रों में इसी अवस्था को 'तदर्थप्राणसंस्थान' कहा है। 'तदीयता' तब आती है, जब साधक भक्ति-मत के अनुसार पूर्णावस्था को प्राप्त हो जाता है, जब वह श्रीभगवान के चरण कमलों का स्पर्श कर धन्य और कृतकृत्य हो जाता है। तब उस की प्रकृति विशुद्ध हो जाती है—सम्पूर्ण रूप से परिवर्तित हो जाती है। तब उसके जीवन की सारी साध पूरी हो जाती है। फिर भी, इस प्रकार के बहुत से भक्त बस उनकी उपासना के निमित्त ही जीवन धारण किए रहते हैं। इस दुःखमय जीवन में

१, तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो बिमुञ्चयामृतस्यैष सेतुः।
—मुण्डकोपनिषद्, २।२।५

यही एकमात्र सुख है, और वे इसे छोड़ना नहीं चाहते। 'हे राजन ! हरि के ऐसे मनोहर गुण हैं कि जो लोग उनको प्राप्त कर संसार की सारी वस्तुओं से तृप्त हो गए हैं, जिनके हृदय की सब ग्रंथियाँ खुल गई हैं, वे भी भगवान की निष्काम-भक्ति करते हैं'[१] –'जिन भगवान की उपासना सारे देवता, मुमुक्षु और ब्रह्मवादीगण करते हैं।'[२] ऐसा है प्रेम का प्रभाव ! जब मनुष्य अपने आपको बिलकुल भूल जाता है और जब उसे यह भी ज्ञान नहीं रहता कि कोई चीज अपनी है, तभी उसे यह 'तदीयता' की अवस्था प्राप्त होती है। तब सब कुछ उसके लिए पवित्र हो जाता है, क्योंकि वह सब उसके प्रेमी का ही तो है। सांसारिक प्रेम में भी, प्रेमी अपनी प्रेमिका की प्रत्येक वस्तु को बड़ी प्रिय और पवित्र मानता है। अपनी प्रेमिका के एक छोटे से टुकड़े को भी वह प्यार करता है। इसी प्रकार जो मनुष्य भगवान से प्रेम करता है, उसके लिए सारा संसार प्रिय हो जाता है, क्योंकि यह संसार आखिर उन्हीं भगवान का तो है।

---

१. आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे ।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थभूतगुणो हरिः ।।
—श्रीमद्भागवत, १।७।१०

२. यं देवा नमस्यन्ति मुमुक्षवो ब्रह्मवादिनश्च ।
—नृसिंह० उपनिषद्, ५।२।१५

१५-सार्वजनीन प्रेम

समष्टि से प्रेम किए बिना हम व्यष्टि से कैसे प्रेम कर सकते हैं ? ईश्वर ही वह समष्टि है। सारे विश्व का यदि अखण्ड रूप से चिन्तन किया जाय, तो वही ईश्वर है, और उसे पृथक्-पृथक् रूप से देखने पर वही यह दृश्य जगत है—व्यष्टि है। समष्टि वह इकाई है, जिसमें लाखों छोटी-छोटी इकाइयों का मेल है। इस समिष्ट के माध्यम से ही सारे विश्व को प्रेम करना सम्भव है। भारतीय दार्शनिक व्यष्टि पर ही नहीं रुक जाते; वे तो व्यष्टि पर एक सरसरी नजर डालकर तुरन्त एक ऐसे व्यापक या समष्टि भाव की खोज में लग जाते हैं, जिसमें सब व्यष्टियों या विशेष-विशेष भावों का अन्तर्भाव हो। इस समष्टि की खोज ही भारतीय दर्शन और धर्म का लक्ष्य है। ज्ञानी पुरुष ऐसी एक समष्टि की, ऐसे एक निरपेक्ष और व्यापक तत्त्व की कामना करता है, जिसे जानने से वह सब कुछ जान सके। भक्त उन एक सर्वव्यापी पुरुषोत्तम की साक्षात् उपलब्धि कर लेना चाहता है, जिनसे प्रेम करने से वह सारे विश्व से प्रेम कर सके। योगी सबकी मूल-भूत उस शक्ति को अपने अधिकार में लाना चाहता है, जिसके नियन्त्रण से वह इस सम्पूर्ण विश्व का नियन्त्रण कर सके। यदि हम भारतीय दर्शन के इतिहास का अध्ययन करें, तो देखेंगे कि भारतीय मन सदा से सब बातों में—भौतिक विज्ञान कहिए, मनोविज्ञान कहिए, भक्तितत्त्व, दर्शन आदि सभी में —एक समष्टि या व्यापक तत्त्व की इस अपूर्व खोज में लगा रहा है। इसलिए भक्त इस नतीजे पर पहुँचता है कि यदि तुम केवल एक के बाद दूसरे व्यक्ति से प्रेम करते चले

जाओ, तो तुम अनन्त काल में भी संसार को एक समष्टि के रूप में प्यार करने में समर्थ न हो सकोगे। पर अन्त में जब यह मूल सत्य ज्ञात हो जाता है कि समस्त प्रेम की समष्टि ही भगवान है, संसार के मुक्त, बद्ध या मुमुक्षु सारे जीवात्माओं की आदर्श-समष्टि ही ईश्वर है, तभी यह विश्व प्रेम सम्भव होता है। भगवान ही समष्टि हैं और यह दृश्य जगत् उन्हीं का परिच्छिन्न भाव है—उन्हीं की अभिव्यक्ति है। यदि हम इस समष्टि को प्यार करें, तो इससे सभी को प्यार करना हो जाता है। तब जगत् को प्यार करना और उसकी भलाई करना स्वाभाविक हो जाता है। पर पहले भगवत्प्रेम के द्वारा हमें यह शक्ति प्राप्त कर लेनी होगी, नहीं तो संसार की भलाई करना कोई हँसी-खेल नहीं है। भक्त कहता है, "सब कुछ उन्हीं का है, वह मेरे प्रियतम हैं, मैं उनसे प्रेम करता हूँ।" इस प्रकार भक्त को सब कुछ पवित्र प्रतीत होने लगता है, क्योंकि वह सब आखिर उन्हीं का तो है। सभी उन प्रभु की सन्तान हैं, उनके अंगस्वरूप हैं, उनके रूप हैं। तब फिर हम किसी को कैसे चोट पहुँचा सकते हैं? दूसरों को बिना प्यार किए हम कैसे रह सकते हैं? भगवान के प्रति प्रेम के साथ ही, उसके निश्चित फलस्वरूप, सर्व भूतों के भी प्रति प्रेम अवश्य आएगा। हम भगवान के जितने समीप आते जाते हैं, उतने ही अधिक स्पष्ट रूप से देखते हैं कि सब कुछ उन्हीं में है। जब जीवात्मा इस परम प्रेमानन्द का सम्भोग करने में सफल होता है, तब वह ईश्वर को सब भूतों में देखने लगता है। इस प्रकार हमारा हृदय प्रेम का एक अजस्र स्रोत बन जाता है। और जब हम इस प्रेम की और भी उच्चतर अवस्थाओं में पहुँचते हैं, तब संसार की वस्तुओं में तुच्छ भेद का विचार हमारे हृदय से सर्वथा लुप्त हो जाता है। तब मनुष्य मनुष्य के रूप में नहीं दीखता, वरन् साक्षात् ईश्वर के रूप में दीख पड़ता है; पशु-

रूप नहीं दिखाई पड़ता है, वरन् उसमें स्वयं भगवान ही दिखाई पड़ते हैं; यहाँ तक कि ऐसे प्रेमी की आँखों से बाघ का भी बाघ-रूप लुप्त हो जाता है और उसमें स्वयं भगवान प्रकाशमान दीख पड़ते हैं। इस प्रकार, भक्ति की इस प्रगाढ़ अवस्था में सभी प्राणी हमारे लिए उपास्य हो जाते हैं। "हरि को सब भूतों में अवस्थित जानकर ज्ञानी को सबके प्रति अव्यभिचारिणी भक्ति रखनी चाहिए।"[१] इस प्रगाढ़ सर्वग्राही प्रेम के फलस्वरूप पूर्ण आत्म-समर्पण की अवस्था प्राप्त होती है। तब यह दृढ़ विश्वास हो जाता है कि संसार में भला-बुरा जो कुछ होता है, कुछ भी हमारे लिए अनिष्टकर नहीं। शास्त्रों ने इसी को 'अप्रातिकूल्य' कहा है। ऐसे प्रेमी जीव के सामने यदि दुःख भी आए, तो वह कहेगा, "दुःख ! तुम्हारा स्वागत है।" यदि कष्ट आए, तो कहेगा "आओ कष्ट ! तुम्हारा स्वागत है। तुम भी तो मेरे प्रियतम के पास से ही आए हो।" यदि सर्प आए, तो कहेगा, "विराजो सर्प !" यहाँ तक कि यदि मृत्यु भी आए, तो वह अधरों पर मुस-कान लिए उसका स्वागत करेगा। "धन्य हूँ मैं, जो ये सब मेरे पास आते हैं; इन सबका स्वागत है।" भगवान और जो कुछ भगवान का है, उन सबके प्रति प्रगाढ़ प्रेम से उत्पन्न होनेवाली इस पूर्ण निर्भरता की अवस्था में भक्त अपने में होने वाले सुख और दुःख का भेद भूल जाता है। दुःख-कष्ट आने पर वह तनिक भी विचलित नहीं होता। और प्रेमस्वरूप भगवान की इच्छा पर यह जो स्थिर, खेदशून्य रहित निर्भरता है, वह तो सचमुच महान् वीरतापूर्ण कार्यों से मिलनेवाले नाम-यश की अपेक्षा कहीं अधिक स्पृहणीय है।

---

१ एवं सर्वेषु भूतेषु भक्तिरव्यभिचारिणी।
कर्तव्या पण्डितैर्ज्ञात्वा सर्वभूतमयं हरिम्॥

अधिकतर मनुष्यों के लिए शरीर ही सब कुछ है; शरीर ही उनकी सारी दुनिया है; शारीरिक सुख-भोग ही उनका सर्वस्व है। शरीर और शरीर से सम्बन्धित वस्तुओं की उपासना करने का भूत सबों के सिर सवार है। भले ही हम लम्बी-चौड़ी बातें करें, बड़ी ऊँची-ऊँची उड़ानें लें, पर आखिर हैं हम गिद्धों के ही समान; हमारा मन सदा नीचे पड़े हुए, सड़े-गले माँस के लोथड़ों में ही जमा रहता है। हम शेर से अपने शरीर की रक्षा क्यों करें? हम उसे शेर को क्यों न दे दें? कम-से-कम उससे शेर की तो तृप्ति होगी, और यह कार्य आत्म-त्याग और उपासना से कोई अधिक दूर न होगा। क्या तुम ऐसे एक विचार की प्राप्ति कर सकते हो, जिसमें स्वार्थ की जरा भर भी गन्ध न हो? क्या तुम अपना अहंभाव पूर्ण रूप से नष्ट कर सकते हो? बस, यही प्रेम धर्म की सबसे ऊँची चोटी है, और बहुत थोड़े लोग ही इस अवस्था में पहुँच सके हैं। पर जब तक मनुष्य इस प्रकार के आत्म-त्याग के लिए सारे सयय पूरे हृदय के साथ प्रस्तुत नहीं रहता, तब तक वह पूर्ण भक्त नहीं हो सकता। हम अपने इस पाँचभौतिक शरीर को कम अथवा अधिक समय तक के लिए भले ही सुख पूर्वक रख लें, पर उससे क्या? हमारे शरीर का एक-न-एक दिन नाश होना तो अवश्यम्भावी है। पर उसका अस्तित्व चिरस्थायी नहीं है। वे धन्य हैं, जिनका शरीर दूसरों की सेवा में अर्पण हो जाता है। "एक साधु पुरुष केवल अपनी सम्पत्ति ही नहीं, वरन् अपने प्राण भी दूसरों की सेवा में न्यौछावर कर देने के लिए सदैव तत्पर रहता है। इस संसार में जब मृत्यु निश्चित है, तो श्रेष्ठ यही है कि यह शरीर किसी नीच कार्य की अपेक्षा किसी उत्तम कार्य में ही अर्पित हो जाए।" हम भले ही अपने जीवन को पचास वर्ष या बहुत हुआ तो सौ वर्ष तक खींच ले जाएँ, पर उसके बाद?' उसका क्या होता है? जो कोई वस्तु मिश्रण से उत्पन्न होती है,

वही फिर विश्लिष्ट होकर नष्ट हो जाती है। ऐसा समय अवश्य आता है, जब उसे विश्लिष्ट होना ही पड़ता है। ईसा आज कहाँ रहे, बुद्ध और मुहम्मद आज कहाँ रहे ? संसार के सारे महा-पुरुष और आचार्यगण आज इस धरती से उठ गए हैं; भक्त कहता है, "इस क्षणभंगुर संसार में, जहाँ प्रत्येक वस्तु टुकड़े-टुकड़े होकर धूल में मिली जा रही है। हमें अपने समय का सदुपयोग कर लेना चाहिए।" और वास्तव में जीवन का सर्वश्रेष्ठ उपयोग तो यह है कि वह सब प्राणियों की सेवा में लगा दिया जाय। हमारा सबसे बड़ा भ्रम यह है कि हमारा यह शरीर ही हम हैं और जिस किसी प्रकार से हो, इसकी रक्षा करनी होगी, इसे सुखी रखना होगा। और यह देहात्म-बुद्धि ही संसार में सब प्रकार की स्वार्थपरता की जड़ है। यदि तुम यह निश्चित रूप से जान सको कि तुम शरीर से बिल्कुल पृथक हो, तो फिर इस दुनियां में ऐसा कुछ भी नहीं रह जायेगा, जिसके साथ तुम्हारा विरोध हो सके। तब तुम सब प्रकार की स्वार्थपरता से परे हो जाओगे। इसलिए भक्त कहता है कि हमें ऐसा रहना चाहिए, मानो हम दुनियां की सारी चीजों के लिए मर से गए हों। और वास्तव में यही सच्चा आत्मसमर्पण है — यही सच्ची शरणागति है—जो होने वाला है, हो,। यही "तेरी इच्छा पूर्ण हो" का तात्पर्य है। उसका तात्पर्य यह नहीं कि हम लड़ाई-झगड़ा करते फिरें और सारे समय ही सोचते रहें कि हमारी ये सारी कमजोरियाँ और सांसारिक आकाँक्षाएँ भगवान की इच्छा से हो रही हैं। हो सकता है कि हमारे स्वार्थपूर्ण प्रयत्नों से भी कुछ भला हो जाय; पर वह भगवान देखेंगे, उसमें हमारा-तुम्हारा कोई हाथ नहीं। सच्चा भक्त अपने लिए कभी कोई इच्छा या कार्य नहीं करता। उसके हृदय के अन्तरतम प्रदेश से तो बस यही प्रार्थना निकलती है, "प्रभो, लोग तुम्हारे नाम पर बड़े बड़े मन्दिर

बनवाते हैं, बड़े बड़े दान करते हैं पर मैं तो निर्धन हूँ, मेरे पास कुछ भी नहीं है। अतः मैं अपने इस शरीर को ही तुम्हारे चरण-कमलों में अर्पित करता हूँ। मेरा परित्याग न करना, मेरे प्रभो!' जिसने एक बार इस अवस्था का आस्वादन कर लिया है, उसके लिए प्रेमस्वरूप भगवान के श्रीचरणों में यह चिर आत्मसमर्पण कुवेर के धन और इन्द्र के ऐश्वर्य से भी श्रेष्ठ है, नाम-यश और सुख-सम्पदा की महान् चाह से भी महान् है। भक्त के शान्त आत्मसमर्पण से हृदय में जो शान्ति आती है, उसकी तुलना नहीं हो सकती, वह तो बुद्धि के अगोचर है। इस अप्रातिकूल्य अवस्था की प्राप्ति होने पर उसका किसी प्रकार का स्वार्थ नहीं रह जाता, और जब स्वार्थ ही नहीं, तब फिर स्वार्थ में बाधा देने वाली भला कौनसी वस्तु संसार में रह जाती है? इस परम शरणागति की अवस्था में सब प्रकार की आसक्ति जड़ समेत नष्ट हो जाती है और रह जाती है सर्व भूतों की अन्तरात्मा और आधार स्वरूप उन भगवान के प्रति सर्वावगाहिनी प्रेमात्मिका आसक्ति, भगवान के प्रति प्रेम का यह बन्धन ही सचमुच ऐसा है, जो जीवात्मा को नहीं बांधता, अपितु उसके समस्त बन्धन काट देता है।

१६—पराविद्या और पराभक्ति दोनों एक हैं

उपनिषदों में परा और विद्या में भेद बतलाया गया है। भक्त के लिए पराविद्या और पराभक्ति दोनों एक ही हैं। मुण्डक उपनिषद में कहा है, "ब्रह्मज्ञानी के मतानुसार परा और अपरा ये दो प्रकार की विद्याएँ जानने योग्य हैं। अपरा विद्या में ऋग्वेद यजुर्वेद, सामवेद, शिक्षा (उच्चारणादि की विद्या), कल्प (यज्ञ-पद्धति), व्याकरण, निरुक्त (वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति और अर्थ बताने वाला शास्त्र), छन्द और ज्योतिष आदि हैं; तथा परा विद्या द्वारा उस अक्षर ब्रह्म का ज्ञान होता है।"[१] इस प्रकार परा विद्या स्पष्ट रूप से ब्रह्म विद्या है। देवी भागवत में पराभक्ति के नीचे लिखी व्याख्या की है —एक बर्तन से दूसरे बर्तन में तेल डालने पर जिस प्रकार एक लगातार धार गिरती है, इसी प्रकार जब मन भगवान के सतत् चिन्तन में लगता है, तो पराभक्ति की अवस्था प्राप्त हो जाती है।"[२] भगवान के प्रति परम आसक्ति के साथ हृदय और मन का इस प्रकार निरन्तर और नित्य स्थिर भाव से मनुष्य के हृदय में भगवत्प्रेम का सर्वोच्च आलोक है। दूसरे सब प्रकार की भक्ति इस पराभक्ति अर्थात् रागानुगामिनी भक्ति की प्राप्ति के लिए केवल साधनस्वरूप है। जब

---

१ द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापर च तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते।

मुण्डकोपनिषद्, १।१।४—५

२ चेतसो वर्तनञ्चैव तैलधारासमं सदा। इत्यादि,

—देवीभागवत, ७।३७।११

इस प्रकार का अपार अनुराग मनुष्य के हृदय में उत्पन्न हो जाता है, तो उसका मन सदा भगवान के स्मरण में ही लगा रहता है इसे और किसी का ध्यान ही नहीं आता। भगवान के अलावा वह मन में अन्य विचारों को स्थान तक नहीं देता और फलस्वरूप उसकी आत्मा पवित्रता के दृढ़ कवच से सुरक्षित हो जाती है तथा मानसिक एवं भौतिक सारे बन्धनों को तोड़कर शान्त और मुक्त भाव धारण कर लेती हैं। ऐसा ही व्यक्ति अपने हृदय में भगवान की उपासना कर सकता है। उसके लिए अनुष्ठान-पद्धति, प्रतिमा, शास्त्र और मत-मतान्तर आदि आवश्यक हो जाते हैं; उनके द्वारा उसे और कोई लाभ नहीं होता। भगवान की इस प्रकार उपासना करना सरल नहीं है। साधारणतया मानवी प्रेम वहीं बढ़ता देखा जाता है, जहां उसे दूसरी ओर से बदले में प्रेम मिलता है, और जहाँ ऐसा नहीं होता, वहां उदासीनता अपना अधिकार जमा लेती है। ऐसे उदाहरण बहुत कम हैं, जहाँ बदले में प्रेम न मिलते हुए भी प्रेम का प्रकाश होता हो। उदाहरण देखिए हम दीपक के प्रति पतंगों के प्रेम को ले सकते हैं। पतंगा दीपक से प्रेम करता है और उसमें मिलकर अपने प्राण दे देता है। वास्तव में इस प्रकार प्रेम करना उस का स्वभाव ही है। केवल प्रेम करना संसार में निस्सन्देह प्रेम की सर्वोच्च अभिव्यक्ति है और यही पूर्ण निःस्वार्थ प्रेम है। इस प्रकार का प्रेम जब आध्यात्मिकता के क्षेत्र में कार्य करने लगता है, तो वही हमें पराभक्ति में ले जाता है।

१७—प्रेम-त्रिकोणात्मक

प्रेम की उपमा एक त्रिकोण से दी जा सकती है, जिसका प्रत्येक कोण प्रेम के एक-एक गुण का सूचक है। जिस प्रकार बिना तीन कोण के एक त्रिकोण नहीं बन सकता, उसी प्रकार नीचे लिखे तीन गुणों के बिना सच्चे प्रेम का होना असम्भव है। इस प्रेमरूपी त्रिकोण का पहला कोण तो यह है कि प्रेम में किसी प्रकार का क्रय-विक्रय नहीं होता। जहाँ कहीं किसी बदले की आशा रहती है, वहाँ सच्चा प्रेम कभी नहीं हो सकता, वह तो एक प्रकार की दुकानदारी-सी हो जाती है। जब तक हमारे हृदय में इस प्रकार की थोड़ी सी भी भावना रहती है कि भगवान की आराधना के बदले में हमें उनसे कुछ मिले, तब तक हमारे हृदय में सच्चे प्रेम का संचार नहीं हो सकता। जो लोग किसी वस्तु की प्राप्ति के लिए ईश्वर की उपासना करते हैं, उन्हें यदि वह चीज न मिले, तो निश्चय ही वे उनकी आराधना करना छोड़ देंगे। भक्त भगवान से इसलिए प्रेम करता है कि वे प्रेम सरूप हैं; सच्चे भक्त के इस दैवी प्रेम का और कोई हेतु नहीं रहता।

एक बार एक राजा किसी वन में गया। वहाँ उसे एक साधु मिला। साधुसे थोड़ी देर बातचीत करके राजा उनकी पवित्रता और ज्ञान पर मोहित हो गया। राजा ने उनसे प्रार्थना की, "महाराज! यदि आप मुझसे कोई भेंट ग्रहण करने की कृपा करें, तो मैं धन्य हो जाऊं।" पर साधु ने इनकार कर दिया और कहा —"इस जंगल के फल मेरे लिए काफी हैं, पहाड़ों से निकले हुए निर्मलपानी के झरने पीने को काफी जल दे देते हैं, वृक्षों की छालें

मेरे शरीर को ढकने के लिए काफी हैं और पर्वतों की गुफाएँ घर का काम देती हैं। मैं तुमसे अथवा अन्य किसी से कोई भेंट क्यों लूँ ?" राजा ने कहा—"महाराज, केवल मुझे कृतार्थ करने के लिए कृपया कुछ अवश्य स्वीकार कर लीजिए, और दया कर मेरे साथ चल कर मेरी राजधानी तथा महल को पवित्र कीजिए।" विशेष आग्रह के बाद साधु ने अन्त में राजा की प्रार्थना स्वीकार कर ली उसके साथ उसके महल को गए। साधु को भेंट देने से पहले राजा नियमानुसार अपनी दैनिक प्रार्थना करने लगा। उसने कहा, "हे ईश्वर, मुझे और अधिक सन्तान दो, मेरा धन और भी बढ़े, मेरा राज्य दूर-दूर तक फैल जाय, मेरा शरीर स्वस्थ और नीरोग रहे, आदि-आदि। राजा अपनी प्रार्थना समाप्त भी न कर पाया था कि साधु उठ खड़े हुए और चुपके से कमरे के बाहर चल दिए। यह देखकर राजा बड़े असमंजस में पड़ गया और चिल्लाता हुआ साधु के पीछे भागा, "महाराज, आप कहाँ जा रहे हैं, आपने तो मुझसे कोई भी भेंट ग्रहण नहीं की।" यह सुनकर वे साधु पीछे घूमकर राजा से बोले, "अरे भिखारी, मैं भिखारियों से भिक्षा नहीं माँगता। तू तो स्वयं एक भिखारी, है, मुझे किस प्रकार भिक्षा दे सकता है ! मैं इतना मूर्ख नहीं कि तुझ-जैसे भिखारी से कुछ लूँ। जाओ, मेरे पीछे मत आओ।"

इस कथा से ईश्वर के सच्चे प्रेमियों और साधारण भिखारियों में भेद बड़े सुन्दर ढंग से प्रकट हुआ है। भिखारी की भाँति गिड़गिड़ाना प्रेम की भाषा नहीं है। यहाँ तक कि मुक्ति के लिए भगवान की उपासना करना भी नीची श्रेणी की उपासना में गिना जाता है। शुद्ध प्रेम में किसी प्रकार के लाभ की आकांक्षा नहीं रहती। सच्चा प्रेम सदा प्रेम के लिए ही हुआ

करता है। भक्त इसलिए प्रेम करता है कि बिना प्रेम किए वह रह ही नहीं सकता। जब तुम किसी सुन्दर प्राकृतिक दृश्य को देखकर उस पर मोहित हो जाते हो, तो उस दृश्य से तुम किसी फल की इच्छा नहीं करते और न वह दृश्य ही तुम से कुछ माँगता है। फिर भी उस दृश्य का दर्शन तुम्हारे मन को बड़ा आनन्द देता है, वह तुम्हारे मन की अशान्ति को हल्का कर तुम्हें शान्त कर देता है और उस समय तक के लिए मानो तुम्हें अपनी नश्वर प्रकृति से ऊपर उठाकर एक स्वर्गीय आनन्द से भर देता है। प्रेम का यह भाव ऊपर कहे त्रिकोणात्मक प्रेम का पहला कोण है। अपने प्रेम के बदले में कुछ मत माँगो। सदैव देते ही रहो। भगवान को अपना प्रेम दो, परन्तु बदले में उनसे कुछ भी मांगो मत।

प्रेम के इस त्रिकोण का दूसरा कोण यह है कि प्रेम में कोई भय नहीं रहता। जो लोग भयवश भगवान से प्रेम करते हैं, वे नीच मनुष्य हैं, उनमें अभी तक मनुष्यत्व का विकास नहीं हुआ। वे दण्ड के डर से ईश्वर की उपासना करते हैं। उनकी दृष्टि में ईश्वर एक महान पुरुष हैं, जिनके एक हाथ में दण्ड है और दूसरे में चाबुक। उन्हें इस बात का डर रहता है कि यदि वे उनकी आज्ञा का पालन नहीं करेंगे, तो उन्हें कोड़े लगाए जायँगे। पर दण्ड के डर से ईश्वर की उपासना करना सबसे नीची कोटि की उपासना है। एक तो, वह उपासना कहलाने योग्य है ही नहीं, फिर भी यदि उसे उपासना कहें, तो वह प्रेम की सबसे भद्दी उपासना है। जब तक हृदय में किसी प्रकार का भय है, तब तक प्रेम कैसे हो सकता है? प्रेम, स्वभावतः सब प्रकार के भय पर विजय प्राप्त कर लेता है। उदाहरण के लिए यदि एक युवती सड़क पर जा रही हो और उस पर कुत्ता भौंक पड़े, तो वह डर

कर पास के घर में घुस जाएगी। परन्तु मान लो, दूसरे दिन वही स्त्री अपने बच्चे के साथ जा रही है और उस बच्चे पर शेर झपट पड़ता है। तो बताओ, वह क्या करेगी ? बच्चे की रक्षा के लिए वह स्वयं शेर के मुँह में चली जाएगी। सचमुच, प्रेम सारे भय पर विजय प्राप्त कर लेता है। भय इस स्वार्थ भावना से उत्पन्न होता है कि मैं दुनियाँ से अलग हूँ। और जितना ही मैं अपने को तुच्छ और स्वार्थ पर बनाऊँगा, मेरा भय उतना ही बढ़ेगा। यदि कोई मनुष्य अपने को एक छोटा सा तुच्छ जीव समझे, तो भय उसे अवश्य घेर लेगा। और तुम अपने को जितना कम तुच्छ समझोगे, तुम्हारे लिए भय भी उतना ही कम होगा। जब तक तुम में थोड़ा-सा भी भय है, तब तक तुम्हारे मानस-सरोवर में प्रेम की तरंगें नहीं उठ सकतीं। प्रेम और भय दोनों एक साथ कभी नहीं रह सकते। जो भगवान से प्रेम करते हैं, उन्हें उनसे डरना नहीं चाहिए। 'ईश्वर का नाम व्यर्थ में न लो' इस आदेश पर ईश्वर का सच्चा प्रेमी हँसता है। प्रेम के धर्म में भगवान की निन्दा किस प्रकार सम्भव है ? ईश्वर का नाम तुम जितना ही लोगे, फिर वह किसी भी प्रकार से क्यों न हो, तुम्हारा उतना ही मंगल है। उनसे प्रेम होने के कारण ही तुम उनका नाम लेते हो।

प्रेमरूपी त्रिकोण का तीसरा कोण यह है कि प्रेम में कोई प्रतिद्वन्द्वी अर्थात् दूसरा प्रेमपात्र नहीं होता, क्योंकि इस प्रेम में प्रेमी का सर्वोच्च आदर्श ही लक्षित रहता है। प्रकृत प्रेम तब तक नहीं होता, जब तक हमारे प्रेम का पात्र हमारा सर्वोच्च आदर्श नहीं बन जाता। हो सकता है कि अनेक स्थलों में मनुष्य का प्रेम अनुचित दिशा में लग जाता हो; पर जो प्रेमी है, उसके लिए तो उसका प्रेमपात्र ही उच्चतम आदर्श है। हो सकता है, कोई व्यक्ति अपना आदर्श सबसे निकृष्ट मनुष्य में

देखे और कोई दूसरा, किसी देवमानव में; पर प्रत्येक दशा में वह आदर्श ही है, जिसे सच्चे और प्रगाढ़ रूप से प्रेम किया जाता है। प्रत्येक व्यक्ति के उच्चतम आदर्श को ही ईश्वर कहते हैं। कोई चाहे ानी हो, चाहे अज्ञानी, साधु हो या पापी, पुरुष हो अथवा स्त्री, शिक्षित हो अथवा अशिक्षित, प्रत्येक दशा में मनुष्यमात्र का परमोच्च आदर्श ईश्वर ही है। सौन्दर्य, महानता और शक्ति के उच्चतम आदर्शों के योग में ही हमें प्रेममय एवं प्रेमास्पद भगवान का पूर्णतम भाव मिलता है। स्वभावतः ही ये आदर्श किसी-न-किसी रूप में हर एक व्यक्ति के मन में वर्तमान रहते हैं। वे मानो हमारे मन के अंग या अंश विशेष हैं। उन आदर्शों को व्यावहारिक जीवन में बदलने के जो सब प्रयत्न हैं, वे ही मानवी प्रकृति की अनेक क्रियाओं के रूप में प्रकट होते हैं। विभिन्न जीवात्माओं में जो सब भिन्न-भिन्न आदर्श निहित हैं, वे बाहर आकर ठोस रूप धारण करने का निरन्तर प्रयत्न कर रहे हैं, और इसके फलस्वरूप हम अपने चारों ओर समाज में अनेक प्रकार की गतियाँ और हलचल देखते हैं। जो कुछ भीतर है, वही बाहर आने का प्रयत्न करता है। आदर्श का यह नित्य प्रबल प्रभाव ही एक ऐसी कार्यकारिणी शक्ति है, जो मानव-जीवन में निरन्तर क्रियाशील है, हो सकता है। सैकड़ों जन्मों के बाद, हजारों वर्ष प्रयत्न करने के बाद मनुष्य समझे कि अपना अभ्यन्तरस्थ आदर्श बाहरी वातावरण और अवस्थाओं के साथ पूरी तरह मेल नहीं खा सकता। और जब वह यह समझ जाता है, तब बाहरी जगत् को अपने आदर्श के अनुसार गढ़ने की फिर अधिक चेष्टा नहीं करता। तब वह इस प्रकार के सारे प्र यत्न छोड़कर प्रेम की उच्चतम भूमि से, स्वयं आदर्श की आदर्श-रूप से उपासना करने लगता है। यह पूर्ण आदर्श अपने में दूसरे सब छोटे-छोटे आदर्शों को समा

लेता है। सभी लोग इस बात की सचाई स्वीकार करते हैं कि प्रेमी कुरूपता में भी रूप के दर्शन करता है। बाहर के लोग कह सकते हैं कि प्रेम गलत दिशा में जा रहा है।—अपात्र में अर्पित हो रहा है; पर जो प्रेमी है, उसे तो अपने प्रेमास्पद में कहीं कोई कुरूपता दिखाई ही नहीं पड़ती, वह तो उसमें रूप-ही-रूप देखता है। चाहे रूपवती स्वर्ग की अप्सरा हो, चाहे कुरूप स्त्री, वास्तव में हमारे प्रेम के आधार तो मानो कुछ केन्द्र हैं। जिनके चारों ओर हमारे आदर्श घनीभूत होकर रहते हैं। संसार साधारणतः किसकी उपासना करता है?—अवश्य उच्चतम भक्त और प्रेमी के सर्वावगाही पूर्ण आदर्श की नहीं। स्त्री-पुरुष साधारणतः उसी आदर्श की उपासना करते हैं, जो उनके हृदय में है। प्रत्येक व्यक्ति अपना-अपना आदर्श बाहर लाकर उसके सम्मुख भूमिष्ठ हो प्रणाम करता है। इसीलिए हम देखते हैं कि जो लोग निर्दयी और खूनी होते हैं, वे एक रक्तपिपासु ईश्वर की ही कल्पना करते हैं तथा उसे भजते हैं; क्योंकि वे अपने सर्वोच्च आदर्श की ही उपासना कर सकते हैं। और इसीलिए साधुजनों का ईश्वर सम्बन्धी आदर्श बहुत ऊँचा होता है, और वास्तव में वह अन्य लोगों के आदर्श से बहुत भिन्न है।

१८—प्रेममय भगवान स्वयं अपना प्रमाण है

जो प्रेमी स्वार्थ और भय के परे हो गया है, जो फल की आशा से शून्य हो गया है, उसका आदर्श क्या है ? वह परमेश्वर से भी कहेगा कि, "मैं तुम्हें अपना सब कुछ अर्पण करता हूँ, मैं तुमसे कोई चीज नहीं चाहता। वास्तव में ऐसा कुछ नहीं है, जिसे मैं अपना कह सकूँ।" जब मनुष्य इस प्रकार की अवस्था प्राप्त कर लेता है, तब उसका आदर्श पूर्ण प्रेम का आदर्श हो जाता है; वह प्रेमजनित पूर्ण निर्भीकता के सर्वोच्च आदर्श में परिणत हो जाता है। इस प्रकार के व्यक्ति के सर्वोच्च आदर्श में किसी प्रकार की संकीर्णता नहीं रह जाती—वह आदर्श तो सार्वभौमिक प्रेम, अनन्त और असीम प्रेम पूर्ण स्वतंत्र प्रेम का आदर्श होता है- यही क्यों वह साक्षात प्रेमस्वरूप होता है। तब प्रेम-धर्म के इस महान आदर्श की उपासना किसी प्रतीक या प्रतिमा के सहारे नहीं करनी पड़ती, वरन तब तो वह आदर्श के रूप में ही उपासना सबसे ऊँचे प्रकार की पराभक्ति है। भक्ति के अन्य सब प्रकार तो इस पराभक्ति की प्राप्ति में केवल साधनस्वरूप हैं। इस प्रेम-धर्म के मार्ग में चलते-चलते हमें जो सफलताएँ और असफलताएँ मिलती हैं, वे सब की सब उस आदर्श की प्राप्त के मार्ग पर ही घटती हैं—अर्थात् प्रकारान्तर से वे उस में सहायता ही पहुँचाती हैं। साधक एक के बाद दूसरी वस्तु लेता जाता है और उसपर अपना भीतरी आदर्श प्रतिबिम्बित करता जाता है। क्रमशः ये सारी बाह्य वस्तुएँ इस सतत-विस्तारशील भीतरी आदर्श को प्रकाशित करने के लिए अनुपयुक्त सिद्ध होती हैं और इसलिए स्वभावतः एक-एक करके

उनका त्याग कर दिया जाता है। अन्त में साधक समझ जाता है कि बाहरी वस्तुओं में आदर्श की प्राप्ति करने का प्रयत्न व्यर्थ है और ये सब बाह्य वस्तुएँ तो आदर्श की तुलना में बिल्कुल तुच्छ हैं। कालान्तर में, वह उस सर्वोच्च और सम्पूर्ण निर्विशेष-भावापन्न सूक्ष्म आदर्श को अन्तर में ही जीवन और सत्य रूप से अनुभव करने की शक्ति प्राप्त कर लेता है। जब भक्त इस अवस्था में पहुँच जाता है, तब उसमें ये सब तर्क-वितर्क नहीं उठते कि भगवान सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान हैं या नहीं। उसके लिए तो भगवान प्रेममय हैं—प्रेम का सर्वोच्च आदर्श हैं और बस यह जानना ही उसके लिए पर्याप्त है। भगवान प्रेमरूप होने के कारण स्वतः सिद्ध हैं, वे अन्य किसी प्रमाण की अपेक्षा नहीं रखते। प्रेमी के पास प्रेमास्पद या अस्तित्व प्रमाणित करने के लिए किसी बात की आवश्यकता नहीं। अन्यान्य धर्मों के न्यायकर्त्ता-भगवान का अस्तित्व प्रमाणित करने के लिए बहुत से प्रमाणों की आवश्यकता हो सकती है, पर भक्त तो ऐसे भगवान की बात मन में भी नहीं ला सकता। उसके लिए तो भगवान केवल प्रेमस्वरूप हैं।' 'हे प्रिय, कोई भी स्त्री पति से पति के लिए प्रेम नहीं करती, वरन् पति में स्थित आत्मा के लिए ही वह पति से प्रेम करती है। हे प्रिय, कोई भी पुरुष पत्नी से पत्नी के लिए प्रेम नहीं करता, वरन् पत्नी स्थित आत्मा के लिए ही प्रेम करता है।' कोई-कोई कहते हैं कि समस्त कार्यों की एकमात्र प्रेरक-शक्ति है स्वार्थपरता। किन्तु वह भी तो प्रेम ही है; पर हाँ, वह प्रेम विश्लिन्टता के कारण निम्न-भावापन्न हो गया है—बस इतना ही। जब मैं अपने को संसार की सारी वस्तुओं में स्थित सोचता हूँ, निश्चय ही मुझ में किसी प्रकार की स्वार्थपरता नहीं रह सकती। किन्तु जब मैं भ्रम में पड़कर अपने आपको एक छोटा-सा प्राणी सोचने लगता हूँ, तब मेरा

प्रेम संकीर्ण हो जाता है—एक विशिष्ट भाव से सीमित हो जाता है। प्रेम के क्षेत्र को संकीर्ण और मर्यादित कर लेना ही हमारा भ्रम है। इस विश्व की सारी वस्तुएँ भगवान से निकलती हैं, इसलिए वे सभी हमारे प्रेम के योग्य हैं। पर हम यह हमेशा स्मरण रखें कि समष्टि को प्यार करने से ही अंशों को भी प्यार करना हो जाता है। यह समष्टि ही भक्त का भगवान है। अन्यान्य प्रकार के ईश्वर—जैसे, स्वर्ग में रहने वाले पिता, शास्ता, स्रष्टा—तथा अनेक प्रकार के मतवाद और शास्त्र-ग्रन्थ भक्त के लिए कुछ अर्थ नहीं रखते—उसके लिए इन सबका कोई प्रयोजन नहीं; क्योंकि वह तो पराभक्ति के प्रभाव से सम्पूर्णतः इन सबके ऊपर उठ गया है। जब हृदय शुद्ध और पवित्र हो जाता है, तथा दैवी प्रेमामृत से सराबोर हो जाता है, तब ईश्वर सम्बन्धी अन्य सब धारणाएँ बच्चों की बात-सी प्रतीत होने लगती हैं और वे अपूर्ण एवं अनुपयुक्त समझ कर त्याग दी जाती हैं। सचमुच, पराभक्ति का प्रभाव ही ऐसा है! तब वह पूर्णता-प्राप्त भक्त अपने भगवान को मन्दिरों और गिरजों में खोजने नहीं जाता; उसके लिए तो ऐसा कोई स्थान ही नहीं, जहाँ वे न हों। वह उन्हें मन्दिर के भीतर और बाहर सर्वत्र देखता है। साधु की साधुता में और दुष्ट की दुष्टता में भी वह उनके दर्शन करता है; क्योंकि उसने तो उन महिमामय प्रभु को पहले से ही अपने हृदय-सिंहासन में बिठा लिया है और वह जानता है कि वे एक सर्वशक्तिमान एवं निरन्तर आलोकित प्रेमज्योति के रूप में उसके हृदय में सदा प्रकाशमान हैं और सदा से वर्तमान हैं।

१६—दैवी प्रेम की मानवी विवेचना

प्रेम के इस परमोच्च और पूर्ण आदर्श को मानवी भाषा में प्रकट करना असम्भव है। उच्चतम मानवी कल्पना भी उसकी अनन्त पूर्णता तथा सौन्दर्य का अनुभव करने में अशक्त है। परन्तु फिर भी सब समय, सारे देश में, प्रेम-धर्म के उच्च और निम्न दोनों श्रेणी के उपासकों को अपने-अपने प्रेमादर्श का अनुभव और वर्णन करने के लिए इस अपूर्ण मानवी भाषा का ही प्रयोग करना पड़ा है। इतना ही नहीं, बल्कि भिन्न-भिन्न प्रकार के मानवी प्रेम इस अव्यक्त दैवी प्रेम के प्रतीक-स्वरूप ग्रहीत हुए हैं। मनुष्य दैवी विषयों के सम्बन्ध में अपने मानवी ढंग से ही सोच सकता है, वह पूर्ण निरपेक्ष सत्ता हमारे समक्ष हमारी सापेक्ष भाषा में ही प्रकाशित हो सकती है। यह सारा विश्व हमारे लिए और है क्या? वह तो मानो 'शान्त' भाषा में लिखा हुआ 'अनन्त' मात्र है। इसीलिए भक्त गण भगवान और उनकी प्रेमोपासना के सम्बन्ध में उन्हीं शब्दों का प्रयोग करते हैं, जो साधारण मानवी प्रेम के लिए उपयोग में लाए जाते हैं। पराभक्ति के कई व्याख्याताओं ने इस दैवी प्रेम को अनेक प्रकार से समझने और उसका प्रत्यक्ष अनुभव करने की चेष्टा की है।

इस प्रेम के निम्नतर रूप को 'शान्त' शक्ति कहते हैं। जब भगवान की उपासना के समय मनुष्य के हृदय में प्रेमाग्नि प्रज्वलित नहीं रहती, जब वह प्रेम से उन्मत्त होकर अपनी सुध-बुध नहीं खो बैठता, जब उसका प्रेम बाह्य क्रिया-कलापों और अनुष्ठानों से कुछ थोड़ा सा उन्नत एक साधारण-सा प्रेम रहता

है, जब उसकी उपासना में प्रबल प्रेम की उन्मत्तता नहीं रहती, तब वह उपासना शान्त भक्ति या शान्त प्रेम कहलाती है। हम देखते हैं कि संसार में कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो साधन-पथ पर धीरे-धीरे आगे बढ़ना पसन्द करते हैं; और कुछ ऐसे भी लोग हैं, जो आँधी के समान जोर से चले जाते हैं। शान्त भक्त धीर सोता है, शान्त और नम्र होता है।

इससे कुछ ऊँची अवस्था है--'दास्य'। इस अवस्था में मनुष्य अपने को ईश्वर का दास समझता है। विश्वासी सेवक की अपने स्वामी के प्रति अनन्य भक्ति ही उसका आदर्श है।

इसके बाद है 'सख्य' प्रेम। इस सख्य प्रेम का साधक भगवान से कहता है, 'तुम मेरे प्रिय सखा हो।'[1] जिस प्रकार एक व्यक्ति अपने मित्र के सामने अपना हृदय खोल देता है और यह जानता है कि उसका मित्र उसके दुर्गुणों पर कभी ध्यान न देगा, वरन् उसकी सदा सहायता ही करेगा—उन दोनों में जिस प्रकार समानता का एक भाव रहता है, उसी प्रकार सख्य-प्रेम के साधक और उसके सखा भगवान के बीच भी मानों एक प्रकार की समानता का भाव रहता है। इस तरह भगवान हमारे अन्तरंग मित्र हो जाते हैं, जिनको हम अपने जीवन की सारी बातें दिल खोलकर बता सकते हैं, जिनके सामने हम अपने हृदय के गुप्त-से गुप्त भावों को भी बिना किसी संकोच के प्रकट कर सकते हैं। उन पर हम पूरा भरोसा—पूरा विश्वास रख सकते हैं कि वे वही करेंगे, जिससे हमारा मंगल हो; और ऐसा सोचकर हम पूर्णरूप से निश्चिन्त रह सकते हैं। इस अवस्था में भक्त भगवान को अपनी बराबरी का समझता है--भगवान मानो हमारे मित्र हों, सखा हों। हम सभी इस संसार में मानो

१. त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव —पाण्डव गीत।

खेल रहे हैं। जिस प्रकार बच्चे अपना खेल खेलते हैं, जिस प्रकार बड़े-बड़े राजा-महाराजा भी अपना-अपना खेल खेलते हैं, उसी प्रकार वे प्रेम-स्वरूप भगवान भी इस दुनियां के साथ खेल खेल रहे हैं। वे पूर्ण हैं—उन्हें किसी चीज की कमी नहीं। उन्हें सृष्टि करने की क्या आवश्यकता है? जब हमें किसी चीज की आवश्यकता होती है, तभी हम उसकी पूर्ति के लिए क्रियाशील होते हैं, और अभाव का तात्पर्य ही है अपूर्णता। भगवान पूर्ण हैं—उन्हें किसी बात की कमी नहीं। तो फिर वे इस नित्य कर्म-मय सृष्टि में क्यों लगे हैं? उनका उद्देश्य क्या है? भगवान के सृष्टि-निर्माण के सम्बन्ध में जो सब भिन्न-भिन्न कल्पनाएँ हैं, वे किम्वदन्तियों के रूप में ही भली हो सकती हैं, अन्य किसी प्रकार नहीं। सचमुच, यह सब उनकी लीला है। यह सारा विश्व उनका ही खेल है—वह तो उनके लिए एक तमाशा है। यदि तुम निर्धन हो, तो उस निर्धनता को ही एक तमाशे के रूप में देखो। यदि दुःख आए, तो वही एक सुन्दर तमाशा है, और यदि सुख प्राप्त हो, तो सोचो, यह भी एक सुन्दर तमाशा है। यह दुनियां सब एक खेल का मैदान है, और हम सब यहाँ पर तरह-तरह के खेल-खिलावाड़ कर रहे हैं—मौज कर रहे हैं। भगवान सारे समय हमारे साथ खेल रहे हैं और हम भी उनके साथ खेलते रहते हैं। भगवान तो हमारे चिरकाल के संगी हैं—हमारे खेल के साथी हैं। कैसा सुन्दर खेल रहे हैं वे! खेल खतम हुआ कि कल्प का अन्त हो गया। फिर कम या अधिक समय तक विश्राम—उसके बाद फिर से खेल का आरम्भ—पुनः जगत् की सृष्टि! जब तुम भूल जाते हो कि यह सब एक खेल है और तुम इस खेल में सहायता कर रहे हो, तभी दुःख और कष्ट तुम्हारे पास आते हैं; तब हृदय भारी हो जाता है और संसार अपने प्रचण्ड बोझ से तुम्हें दबा देता है। पर ज्योंही तुम इस दो

पल के जीवन की क्षण-क्षण बदलने वाली घटनाओं को सत्य समझना छोड़ देते हो और इस संसार को एक क्रीड़ाभूमि तथा अपने आपको भगवान की क्रीड़ा में एक सखा-संगी सोचने लगते हो, त्योंही दुःख कष्ट चला जाता है। वे तो प्रत्येक अणु-परमाणु में खेल रहे हैं। वे तो खेलते-खेलते ही पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र आदि का निर्माण कर रहे हैं। वे तो मानव-हृदय, प्राणियों और पेड़-पौधों के साथ क्रीड़ा कर रहे हैं। हम मानो उसके शतरंज के मोहरे हैं। वे मोहरों को शतरंज के खानों में बिठाकर इधर-उधर चला रहे हैं। वे हमें कभी एक प्रकार से सजाते हैं और कभी दूसरे प्रकार से—हम भी जाने या अनजाने उनके खेल में मदद कर रहे हैं। अहा, कैसा आनन्द है! हम सब उनके खेल के साथी जो हैं!

इसके बाद है 'वात्सल्य' प्रेम। उसमें भगवान का चिन्तन पिता-रूप से न करके, सन्तान-रूप से करना पड़ता है। हो सकता है, यह कुछ अजीब-सा मालूम हो, पर उसका उद्देश्य है—अपनी भगवान सम्बन्धी धारणा में से ऐश्वर्य के समस्त भाव दूर कर देना। ऐश्वर्य की भावना के साथ ही भय आता है। पर प्रेम में भय का कोई स्थान नहीं। यह सत्य है कि चरित्र-गठन के लिए भक्ति और आज्ञा-पालन आवश्यक है, पर जब एक बार चरित्र गठित हो जाता है--जब प्रेमी शान्त प्रेम का रस चख लेता है और जब प्रेम की प्रबल उन्मत्तता का भी उसे थोड़ा-सा अनुभव हो जाता है, तब उनके लिए नीति-शास्त्र और साधन-नियम आदि की कोई जरूरत नहीं रह जाती। प्रेमी कहता है कि भगवान को महामहिम, ऐश्वर्यशाली, जगन्नाथ या देव-देव के रूप में सोचने की मेरी इच्छा ही नहीं होती। भगवान के साथ सम्बन्धित यह जो भयोत्पादक ऐश्वर्य की भावना है, उसीको दूर करने के लिए वह भगवान को अपनी

सन्तान के रूप में प्यार करता है। माता-पिता अपने बच्चे से भयभीत नहीं होते, उसके प्रति उनकी भक्ति नहीं होती। वे उस बच्चे से कुछ याचना नहीं करते। बच्चा तो सदा पानेवाला ही होता है और उसके लिए वे लोग सौ बार भी मरने को तैयार रहते हैं। अपने एक बच्चे के लिए वे लोग हजार जीवन भी न्योछावर करने को तैयार रहते हैं। बस, इसी प्रकार भगवान से वात्सल्य-भाव से प्रेम किया जाता है। जो सम्प्रदाय भगवान के अवतार में विश्वास करते हैं, उन्हीं में यह वात्सल्य-भाव की उपासना स्वाभाविक रूप से आती और पनपती है। मुसलमानों के लिए भगवान को एक सन्तान के रूप में मानना असम्भव है; वे तो डरकर इस भाव से दूर ही रहेंगे। पर ईसाई और हिन्दू इसे सहज ही समझ सकते हैं, क्योंकि उनके तो बालक ईसा और बालक कृष्ण हैं। भारतीय रमणियां बहुधा अपने आपको श्रीकृष्ण की माता के रूप में सोचती हैं। ईसाई माताएँ भी अपने आपको ईसा की माता के रूप में सोच सकती हैं। इससे पाश्चात्य देशों में ईश्वर के मातृभाव का प्रचार होगा; और इसीकी आज उन्हें विशेष आवश्यकता है। भगवान के प्रति भय-भक्ति के कुसंस्कार हमारे हृदय में बहुत गहरे जमे हुए हैं और भगवत्सम्बन्धी इन भक्ति तथा महिमा-ऐश्वर्य के भावों को प्रेम में बिलकुल निमग्न कर देने में बहुत समय लगता है।

मानवी-जीवन में प्रेम का यह दैवी आदर्श एक और प्रकार से प्रकाशित होता है। उसे 'मधुर' कहते हैं और वही सब प्रकार के प्रेमों में श्रेष्ठ है। इस संसार में प्रेम की जो उच्चतम अभि-व्यक्ति है, वही उसकी नींव है और मानवी प्रेमों में वही सबसे प्रबल है। पुरुष और स्त्री के बीच जो प्रेम रहता है, उसके समान और कौनसा प्रेम है, जो मनुष्य की सारी प्रकृति को बिलकुल

उलट दे, जो उसके प्रत्येक परमाणु में संचारित होकर उसको पागल बना दे, उसको अपनी प्रकृति को ही भुला दे, और उसे चाहे तो देवता बना दे, चाहे पशु ? दैवी प्रेम के इस मधुर भाव में भगवान का चिन्तन पति-रूप में किया जाता है—ऐसा विचार कि हम सभी स्त्रियाँ हैं, इस संसार में और कोई पुरुष नहीं, एकमात्र पुरुष हैं—वे; हमारे वे प्रेमी ही एकमात्र पुरुष हैं। जो प्रेम पुरुष स्त्री के प्रति और स्त्री पुरुष के प्रति प्रदर्शित करती है, वही प्रेम भगवान को देना होगा। हम इस संसार में जितने प्रकार के प्रेम देखते हैं, जिनके साथ हम कम या अधिक परिमाण में क्रीड़ा मात्र कर रहे हैं, उन सबका एक ही लक्ष्य है और वह है भगवान। पर दुःख की बात है कि मनुष्य उस अनन्त समुद्र को नहीं जानता, जिसकी ओर हमारी यह महान् सरिता लगातार प्रवाहित हो रही है; और इसलिए वह मूर्खता की इस प्रेमसरित को बहुधा छोटे-छोटे मानवी पुतलों की ओर लाने का प्रयत्न करता रहता है। मानवी प्रकृति में सन्तान के प्रति जो प्रबल स्नेह देखा जाता है, वह सन्तानरूपी एक छोटे से पुतले के लिए ही नहीं है। यदि तुम आंखें बन्द कर उसे केवल सन्तान पर ही न्योछावर कर दो, तो तुम्हें उसके फलस्वरूप दुःख अवश्य भोगना पड़ेगा। पर इस प्रकार के दुःख से ही तुममें यह चेतना उत्पन्न होगी कि यदि तुम अपना प्रेम किसी मनुष्य को अर्पित करो, तो उसके फलस्वरूप कभी-न-कभी दुःख-कष्ट अवश्य आएगा। इसलिए हमें अपना प्रेम उन्हीं पुरुषोत्तम को देना होगा, जिनका नाश नहीं, जिनका कभी परिवर्तन नहीं और जिनके प्रेमसमुद्र में कभी ज्वार-भाटा नहीं। प्रेम को अपने सहज लक्ष्य पर पहुँचना चाहिए—उसे तो उनके निकट जाना चाहिए, जो वास्तव में प्रेम के अनन्त सागर हैं। सभी नदियाँ समुद्र में ही जाकर गिरती हैं। यहाँ तक कि पर्वत से गिरने वाली एक

बूँद भी, वह फिर कितनी भी बड़ी क्यों न हो, किसी झरने या नदी में पहुँचकर बस नहीं रुक जाती, वरन् वह भी अन्त में किसी-न-किसी प्रकार समुद्र में ही पहुँच जाती है। भगवान् हमारे सब प्रकार के भावों के एममात्र लक्ष्य हैं यदि तुम्हें क्रोध करना है तो भगवान पर क्रोध करो। उलाहना देना है,तो अपने प्रेमस्वरूप को उलाहना दो—अपने सखा को उलाहना दो। भला अन्य किसे तुम बिना डरके उलाहना दे सकते हो? मर्त्य जीव तुम्हारे क्रोध को न सह सकेगा। वहाँ तो प्रतिक्रिया होगी। यदि तुम मुझ पर क्रोध करो, तो निश्चित है, मैं तुरन्त प्रतिक्रिया करूँगा, क्योंकि मैं तुम्हारे क्रोध को सह नहीं सकता। अपने प्रेमास्पद से कहो, "प्रियतम, तुम मेरे पास क्यों नहीं आते? तुमने क्यों मुझे इस प्रकार अकेला छोड़ रखा है?" उनको छोड़ भला और किसमें आनन्द है? मिट्टी के छोटे-छोटे लोंदों में भला और कौनसा आनन्द हो सकता है? हमें तो अनन्त आनन्द के सार को ही खोजना है—और भगवान् ही आनन्द के वह सार हैं! आओ, हम, अपने सारे भावों और सारी प्रवृत्तियों को उनकी ओर जोड़ दें। वे सब तो उन्हीं के लिए हैं। वे यदि अपना लक्ष्य चूक जाएँ, तो वे फिर भद्दा रूप धारण कर लेंगे। पर यदि वे अपने ही लक्ष्य स्थान ईश्वर में जाकर पहुँचें, तो उनमें अत्यन्त नीच वृत्ति भी पूर्णरूप से परिवर्तित हो जाएगी। भगवान् ही मनुष्य के मन और शरीर की सारी शक्तियों के एकमात्र लक्ष्य हैं—एकायन हैं,—फिर वे शक्तियाँ किसी भी रूप से क्यों न प्रकट हों। मानव-हृदय का सारा प्रेम—सारे भाव भगवान की ही ओर जायें। वे ही हमारे एकमात्र प्रेमास्पद है। यह मानव-हृदय भला और किसे प्यार करेगा? वे परम सुन्दर हैं, परम महान हैं—अहा? वे साक्षात् सौन्दर्यस्वरूप हैं महत्त्व-स्वरूप हैं। इस संसार में भला और कौन है, जो उनसे अधिक

सुन्दर हो ? उन्हें छोड़ इस दुनियां में भला और कौन पति होने के योग्य है ? उनके सिवा इस जगत् में भला और कौन हमारा प्रेमपात्र हो सकता है ? अतः वे ही हमारे पति हों, वे ही हमारे प्रेमास्पद हों। प्रायः ऐसा होता है कि भगवत्प्रेम में लगे भक्तगण जब इस भगवत्प्रेम का वर्णन करने जाते हैं, तो इसके लिए वे सब प्रकार के मानवी प्रेम की भाषा को उपयोगी मानकर ग्रहण करते हैं। पर मूर्ख लोग इसे नहीं समझते—और वे कभी समझेंगे भी नहीं। वे उसे केवल भौतिक दृष्टि से देखते हैं। वे इस आध्यात्मिक प्रेमोन्मत्तता को नहीं समझ पाते। और वे समझ भी कैसे सकें ? "हे प्रियतम, तुम्हारे अधरों के केवल एक चुम्बन के लिए ! जिसका तुमने एक वार चुम्बन किया है, तुम्हारे लिए उसकी पिपासा बढ़ती ही जाती है। उसके समस्त दुःख चले जाते हैं। वह तुम्हें छोड़ और सब कुछ भूल जाता है।"[१] प्रियतम के उस चुम्बन के लिए—उनके अधरों के उस स्पर्श के लिए व्याकुल होओ, जो भक्त को पागल कर देता हैं, जो मनुष्य को देवता बना देता हैं। भगवान् जिसको एक वार अपना अधरामृत देकर कृतार्थ कर देते हैं, उसकी सारी प्रकृति बिलकुल वदल जाती है। उसके लिए यह जगत् उड़ जाता है, सूर्य और चन्द्र का कोई अस्तित्व नहीं रह जाता और यह सारा विश्व-ब्रह्माण्ड एक विन्दु के समान प्रेम के उस अनन्त सिन्धु में न जाने कहाँ विलीन हो जाता है। प्रेमोन्मत्तता की यही अन्तिम अवस्था है। पर सच्चा भगवत्प्रेमी यहाँ पर भी नहीं रुकता; उसके लिए तो पति और पत्नी की प्रेमोन्मत्तता की यथेष्ठ नहीं अतएव ऐसे भक्त अवैध (परकीय) प्रेम का भाव ग्रहण करते हैं,

१ सुरतवर्धन शोकनाशन स्वरितवेणुना सुष्ठु चुम्बितम्।
इतररागविस्मारण नृणां वितर वीर नस्तेऽधरामृतम्॥
—श्रीमद्भागवत—१०।३१

क्योंकि वह अत्यन्त प्रबल होता है। पर देखो उसकी अवैधता उनका लक्ष्य नहीं है। इस प्रेम का स्वभाव ही ऐसा है कि उसे जितनी वाधा मिलती है, वह उतना ही उग्र रूप धारण करता है। पति-पत्नी का प्रेम अबाध रहता है—उसमें किसी प्रकार की विघ्न-वाधा नहीं आती। इसीलिए भक्त कल्पना करता है, मानो कोई स्त्री पर पुरुष में अनुरक्त है और उसके माता, पिता या स्वामी उसके इस प्रेम का विरोध करते हैं। इस प्रेम के मार्ग में जितनी ही रुकावटें आती हैं, वह उतना ही प्रबल रूप धारण करता जाता है। श्रीकृष्ण वृन्दावन के कुँजों में किस प्रकार लीला करते थे, किस प्रकार सब लोग उन्मत्त होकर उनसे प्रेम करते थे, किस प्रकार उनकी बाँसुरी की मधुर तान सुनते ही चिर-धन्या गोपियाँ सब कुछ भूल कर, इस संसार और इसके सारे बन्धनों को भूलकर, यहाँ के सारे कर्तव्य तथा सुख-दुःख को बिसारकर पागल-सी उनसे मिलने के लिए दौड़ पड़ती थीं—यह सब मानवी भाषा द्वारा प्रकट नहीं किया जा सकता। हे मानव, तुम दैवी प्रेम की बातें तो करते हो, पर साथ ही इस संसार की असार वस्तुओं में भी मन दिए रहते हो। क्या तुम सच्चे हो—क्या तुम्हारा मन और मुख एक है? "जहाँ राम है, वहाँ काम नहीं, और जहाँ काम है, वहाँ राम नहीं।"[1] वे दोनों कभी एक साथ नहीं रह सकते—प्रकाश और अन्धकार क्या कभी एक साथ रहे हैं?

---

१. जहाँ राम तहँ काम नहिं, जहाँ काम नहिं राम।
तुलसी कबहूँ होत नहिं रवि-रजनी इक ठाम॥—गो० तुलसी दास

उपसंहार

जब प्रेम का यह उच्चतम आदर्श प्राप्त हो जाता है, तो ज्ञान फिर न जाने कहाँ चला जाता है। तब भला ज्ञान की इच्छा भी कौन करे? तब तो मुक्ति, उद्धार, निर्वाण की बातें न जाने कहाँ गायब हो जाती हैं। इस दैवी प्रेम में लगे रहने से फिर भला कौन मुक्त होना चाहेगा? "प्रभो! मुझे धन, जन, सौन्दर्य, विद्या, यहाँ तक कि, मुक्ति भी नहीं चाहिए। बस, इतनी ही साध है कि जन्म-जन्म में तुम्हारे प्रति मेरी अहैतुकी भक्ति बनी रहे।" भक्त कहता है, "मैं शक्कर हो जाना नहीं चाहता, मुझे तो शक्कर खाना अच्छा लगता है।" तब भला कौन मुक्त हो जाने की इच्छा करेगा? कौन भगवान के साथ एक हो जाने की कामना करेगा? भक्त कहता है, "मैं जानता हूँ कि वे और मैं दोनों एक हैं, पर तो भी मैं उनसे अपने को अलग रखकर उन प्रियतम का सम्भोग करूँगा।" प्रेम—यही भक्त का सर्वोच्च सुख है। प्रियतम का सम्भोग करने के लिए कौन न हजार बार भी बद्ध होने को तैयार रहेगा? एक सच्चा भक्त प्रेम को छोड़ और किसी वस्तु की कामना नहीं करता। वह स्वयं प्रेम करना चाहता है, और चाहता है कि भगवान् भी उससे प्रेम करें। उसका निष्काम प्रेम नदी की उल्टी दिशा में जानेवाले प्रवाह के समान है। वह मानो नदी के उद्‌गमस्थान की ओर, स्रोत की विपरीत दिशा में जाता है। संसार उसको पागल कहता है। मैं एक ऐसे महापुरुष को जानता हूँ, जिन्हें लोग पागल कहते थे। इसपर उनका उत्तर था, "भाइयो, सारा संसार ही तो एक पागलखाना है। कोई साँसारिक प्रेम के पीछे पागल है, कोई नाम के पीछे, कोई यश के लिए तो कोई पैसे के लिए। फिर कोई कैसे भी हैं, जो उद्धार पाने या स्वर्ग जाने के लिए पागल हैं। इस विराट् पागलखाने में मैं भी एक पागल हूँ—मैं भगवान्

के लिए पागल हूँ। तुम पैसे के लिए पागल हो, और मैं भगवान् के लिए। जैसे तुम पागल हो, वैसा ही मैं भी। फिर भी मैं सोचता हूँ कि मेरा ही पागलपन सबसे उत्तम है।" यथार्थ भक्त के प्रेम में इसी प्रकार की तीव्र उन्मत्तता रहती है और इसके सामने अन्य सब कुछ उड़ जाता है। उसके लिए तो यह सारा जगत् केवल प्रेम से भरा है—प्रेमी को बस ऐसा ही दिखता है। जब मनुष्य में यह प्रेम प्रवेश करता है, तो वह चिरकाल के लिए सुखी, चिरकाल के लिए मुक्त हो जाता है। और दैवी प्रेम की यह पवित्र उन्मत्तता ही हममें समाई हुई संसार-व्याधि को सदा के लिए दूर कर सकती है। उससे वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं और वासनाओं के साथ ही स्वार्थपरता का भी नाश हो जाता है, क्योंकि उसने उन सब असार वासनाओं को फेंक दिया है, जिनसे वह पहले भरा हुआ था।

प्रेम के धर्म में हमें द्वैतभाव से आरम्भ करना पड़ता है। उस समय हमारे लिए भगवान् हमसे भिन्न रहते हैं, और हम भी अपने को उनसे भिन्न समझते हैं। फिर प्रेम बीच में आ जाता है। तब मनुष्य भगवान् की ओर बढ़ने लगता है और भगवान भी क्रमशः मनुष्य के अधिकाधिक निकट आने लगते हैं। मनुष्य संसार के सारे सम्बन्ध—जैसे, माता, पिता, पुत्र, सखा-स्वामी, प्रेमी आदि भाव—लेता है और अपने प्रेम के आदर्श भगवान के प्रति उन सबको आरोपित करता जाता है। उसके लिए भगवान् इन सभी रूपों में विराजमान हैं। और उसकी उन्नति की चरम अवस्थादेवता में सम्पूर्ण रूप से निमग्न हो जाती है। हम सबका पहले अपने तईं प्रेम रहता है, और इस कदर अहं-भाव का असंगत दावा प्रेम को भी स्वार्थमय बना देता है। परन्तु अन्त में ज्ञानज्योति का भरपूर प्रकाश आता है, जिसमें वह क्षुद्र अहं उस अनन्त के साथ एक-सा हुआ दीख पड़ता है। इस प्रेम के प्रकाश में मनुष्य स्वयं सम्पूर्ण रूप से परिवर्तित हो जाता है और अन्त में इस सुन्दर और प्राणों को उन्मत्त बना देनेवाले सत्य का अनुभव करता है कि प्रेम, प्रेमी और प्रेमास्पद तीनों एक हैं।